ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास

प्रथम भाग

१ ब्रज सस्कृति की भूमिका
२ ब्रज का इतिहास

रचयिता
प्रभुदयाल मीतल

प्रस्तावना लेखक
डा० वासुदेवशरण अग्रवाल



राजकमल प्रकाशन
दिल्ली–६

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली द्वारा
साहित्य संस्थान मथुरा के लिए प्रकाशित।

प्रथम संस्करण
प्रथम श्रावण कृ० १२ सं० २०२३ वि०
गुरुवार, १४ जुलाई सन् १९६६ ई०

मूल्य ३२ रुपये

मुद्रक
त्रिलोकीनाथ मीतल, अग्रवाल प्रेस, अग्रवाल भवन, मथुरा।

प्राक्कथन

परम हर्ष और आनंद की बात है कि जिस ग्रंथ की रचना में मैं विगत कई वर्षों से दिन रात लगा हुआ था, वह अब पूर्ण होकर प्रकाशित हो रहा है। कोई व्यक्ति किसी काम का आरंभ तो कर सकता है, किंतु उसकी पूर्ति होना भगवान की इच्छा पर निर्भर है। बड़े-बड़े सिद्ध महापुरुषों और धुरंधर विद्वानों के ग्रंथ भी कभी-कभी अधूरे रह जाते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी कृत श्रीमद्भागवत की 'सुबोधिनी' टीका और पंडितराज जगन्नाथ कृत 'रस गंगाधर' जैसे अनुपम ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। श्री कृष्णदास कविराज ने जब श्री चैतन्य चरितामृत की रचना आरंभ की थी, तब वे अत्यंत वृद्ध और अशक्त हो चुके थे। अपनी उस अवस्था के कारण उन्हें चिंता थी कि उनके द्वारा वह ग्रंथ पूरा हो सकेगा या नहीं[1]। किंतु भगवान् के भरोसे वे अपनी रचना में लगे रहे और अंत में उन्होंने उस महान् ग्रंथ को पूर्ण करके ही दम लिया। श्री ईशानचंद्र घोष जब बौद्ध जातक कथाओं के विशाल वाङ्मय का बंगला भाषा में अनुवाद कर रहे थे, तब वे भी उसकी पूर्ति के संबंध में बड़े शंकित थे। अंत में कई वर्षों के कठिन परिश्रम के उपरांत जब वह काम पूरा हुआ, तब उन्होंने संतोष की श्वास ली थी। मेरा व्यक्तित्व और मेरी यह रचना उन यशस्वी महापुरुषों और उनके विख्यात ग्रंथों की तुलना में तुच्छ एवं नगण्य है, किंतु फिर भी मैं अपने दीर्घकालीन परिश्रम की इस सुखद परिणति पर प्रसन्नतापूर्वक भगवान् को धन्यवाद देता हूँ। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि जब मैं इस ग्रंथ की रचना में प्रवृत्त था, तब अपने भग्न स्वास्थ्य और अपनी जीर्ण शीर्ण काया के कारण मुझे सदैव आशंका रहती थी कि मेरे द्वारा यह बड़ा काम पूरा हो सकेगा या नहीं! किंतु जिन भगवान् श्री कृष्ण के पावन चरित्र की गौरव-गाथा इस ग्रंथ में वर्णित है, उन्हीं के परम अनुग्रह से मैं इसे पूर्ण करने में समर्थ हुआ हूँ। जैसा सूरदास जी ने कहा है,—'जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधरे को सब कछु दरसाइ।'—भगवान् की कृपा के बल पर सब कुछ किया जा सकता है।

श्री कृष्ण ने अपनी आनंदमयी सरस लीलाओं और लोकोपकारी कार्य-कलाप से भारत के जन-जीवन को जितना प्रभावित किया है, उतना किसी अन्य महापुरुष ने नहीं। इसीलिए उन्हें 'पुरुषोत्तम' ही नहीं, 'परब्रह्म' तक कहा गया है। उन्होंने अपने आरंभिक जीवन में ही एक ओर अपने स्नेह स्निग्ध सरल स्वभाव से माधुर्य की धारा प्रवाहित की थी, तो दूसरी ओर अपने प्रचंड बल विक्रम की धाक जमायी थी! फिर अपने उत्तर जीवन में उन्होंने एक ओर अपने अनुपम राजसी वैभव के बल पर 'राजाधिराज' की पदवी प्राप्त की थी, तो दूसरी ओर वे अपने अपूर्व तत्वज्ञान के कारण 'जगद्गुरु' के गौरवपूर्ण पद पर आसीन हुए थे! उनकी उस बहुरंगी जीवन-चर्या से उनके लीला धाम ब्रजमंडल अर्थात् प्राचीन शूरसेन जनपद में जिस संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ, वह ब्रज संस्कृति के नाम से लोक में प्रसिद्ध है। श्री कृष्ण ने भोग और त्याग, युद्ध और शांति, कर्म और ज्ञान, प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा इहलोक और परलोक में अद्भुत संतुलन और

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, द्वितीय परिच्छेद (७६-८१) में कविराज महोदय ने अपनी चिंता बड़े मार्मिक शब्दों में व्यक्त की है।

वैष्णव धर्म के पुनरुद्धार काल में जब कृष्णोपासना और कृष्ण भक्ति का पुनः प्रचार हुआ, तब ब्रज और ब्रज संस्कृति के गौरव की पुनर्स्थापना का भी प्रयास किया गया था। किंतु उस काल में वह कार्य बड़ा कठिन था। कारण यह है, एक तो शताब्दियों की उपेक्षा से ब्रज और ब्रज संस्कृति की गौरवशाली परंपरा लुप्तप्राय हो गई थी, दूसरे उस काल के नव स्थापित मुसल मानी राज्य का उनके प्रति बड़ा विरोधी दृष्टिकोण था। फिर भी विक्रम की १२वीं से लेकर १६वीं शताब्दी तक के काल में कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यों और उनके अनुयायी भक्तजनों ने नाना प्रकार की कठिनाइयों एवं विपत्तियों को सहन कर बड़े साहस और आत्म बल का परिचय दिया था। भगवान् श्री कृष्ण के जीवन दर्शन से अनुप्राणित और उनकी शिक्षाओं से प्रभावित होकर सवश्री निंबार्क, केशव काश्मीरी, माधवेन्द्र, वल्लभ, चैतन्य, हरिवंश, हरिदास, विट्ठल, रूप-सनातन और सूरदास प्रभृति धर्माचार्यों और संत-महात्माओं के कारण ब्रज संस्कृति के एक नये रूप का उदय हुआ, जिसने समस्त देश में नव जीवन का संचार किया था। उन धर्मप्राण महानुभावों का रहन-सहन जहाँ अतिशय त्याग और वैराग्यपूर्ण था, वहाँ उनके उपदेश और उनकी रचनाओं में माधुर्य भक्ति का समावेश था। इस प्रकार उन्होंने श्री कृष्ण के अनुकरण पर भोग और त्याग प्रवृत्ति और निवृत्ति के सामंजस्य का आदर्श प्रस्तुत किया था। उन्होंने अपने तप-त्याग और आत्म बल तथा अपनी विद्वत्ता, माधुर्य-भावना और कला प्रियता से ब्रज के विस्मृत गौरव और ब्रज संस्कृति की उच्छिन्न परंपरा को कृष्ण भक्ति के सुदृढ़ धरातल पर पुनः प्रतिष्ठित कर दिया था।

श्री वल्लभाचार्य अपनी प्रथम देशव्यापी यात्रा करते हुए जब सं० १५५० के लगभग पहिली बार ब्रज में आये थे, तब यह पुरातन प्रदेश दिल्ली के सुलतानों की मजहबी कट्टरता के उत्पीडन से त्रस्त था। उन असहिष्णु सुलतानों ने यहाँ पर बने हुए जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्तादि धर्म संप्रदायों के प्राय सभी मंदिर देवालय नष्ट भ्रष्ट कर दिये थे। उन्होंने मूर्ति-पूजा करने और नये मंदिर बनवाने पर कड़ी पाबंदी लगा दी थी। इस प्रकार यहाँ के धर्मप्राण निवासी अपने उपास्य देव की सेवा पूजा करने से वंचित हो जाने के कारण बड़े दुखी थे। श्री वल्लभाचार्य ने गोवर्धन में श्रीनाथ जी की सेवा प्रचलित कर और उनके मंदिर निर्माण का आयोजन कर अपने अदम्य साहस और अपूर्व आत्म बल का परिचय दिया था। उनके कारण उस काल में मथुरा, गोवर्धन और गोकुल की धार्मिक स्थिति में कुछ परिवर्तन होने के साथ ब्रज संस्कृति ने भी अपनी करवट बदली थी। ब्रज के अन्य लीला-स्थलों के पुनरुद्धार और ब्रज संस्कृति के व्यापक प्रचार के लिए उन्हें अपने व्यस्त और थोड़े जीवन में अवकाश नहीं मिला था।

चैतन्य महाप्रभु द्वारा बंगाल में कृष्ण भक्ति का प्रचार किये जाने से बंगीय भक्तों का ब्रज और ब्रज संस्कृति के प्रति अपूर्व आकर्षण हुआ था। श्री माधवेन्द्रपुरी और ईश्वरपुरी की प्रेरणा से चैतन्य देव ने ब्रज के लीला स्थलों के अनुसंधान करने का आयोजन किया। उसके लिए उन्होंने सं० १५६८ में अपने दो अनुचर सर्वश्री लोकनाथ चक्रवर्ती और भूगर्भ गोस्वामी को ब्रज का सर्वेक्षण करने को भेजा था। वे दोनों भक्तजन कुछ काल तक ब्रज के बीहड़ वनों में भटक कर वापिस चले गये। उन्हें अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। सं० १५७३ में चैतन्य महाप्रभु स्वयं ब्रज में आये थे। उस समय उन्होंने यहाँ के प्रमुख वनों की यात्रा, तीर्थों में स्नान और कतिपय लीला स्थलों एवं देवालयों के दर्शन करने के अतिरिक्त गोवर्धन के निकटवर्ती राधाकुंड नामक

सामञ्जस्य स्थापित कर ब्रज संस्कृति को जन्म दिया था। यह सुन्दर धार्मिक संस्कृति है, इस पर प्रत्यक्ष रूप पर धर्मोपासना का गहरा प्रभाव रहा है। इसके प्रमुख तत्त्व लोकोत्तर ... तथा समन्वय और समन्वय-सामञ्जस्य हैं, जो कृष्णोपासना की पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठित होकर ... हैं। ब्रज संस्कृति में सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की भावना से ओत प्रोत है। इसलिए इसे उचित भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत इसका सम्मानपूर्ण स्थान कहा जा सकता है।

ब्रज संस्कृति का प्रधान केन्द्र यह ब्रजमंडल रहा जो कृष्ण के जन्म और उनकी लीलाओं के कारण लीलाभूमि रहा है, यहाँ इसका यह बड़ा दुर्भाग्य है कि विगत सात सहस्र वर्षों के विविध युगों में यह बार बार भयंकर विपत्तियों और दुरवस्थाओं से ग्रसित होता रहा है। उसके कारण ब्रज संस्कृति भी बार बार बनती बिगड़ती रही है, किन्तु उसका सर्वथा नाश कभी नहीं हुआ। यद्यपि 'ब्रज' और 'ब्रज संस्कृति' नाम अधिक प्राचीन नहीं हैं, तथापि इनकी सत्ता और महत्ता कृष्ण काल से ही विद्यमान रही है। विगत पाँच सहस्र वर्षों के सुदीर्घ काल में 'ब्रज' और 'ब्रज संस्कृति' ने विविध नाम-रूपों में ... अनेक उतार और चढ़ाव देखे हैं। इसके ऐतिहासिक विवरण की सर्वांगीण रूपरेखा ... में विस्तार से दिये गये हैं। उनके अध्ययन से ब्रज का जो क्रमबद्ध इतिहास ज्ञात होता है, वह बड़ा ही रोचक, आश्चर्यजनक और शिक्षाप्रद है। उससे ज्ञात होता है कि विविध युगों में किस प्रकार ब्रज तथा ब्रज संस्कृति की उन्नति, अवनति एवं पुनरुन्नति हुई थी और अब इसकी क्या स्थिति है तथा भविष्य की क्या संभावना है।

शूरसेन अर्थात् प्राचीन ब्रजमंडल पर जब कभी विपत्ति श्री कृष्ण की विद्यमानता में ही उस समय आई थी जब मगध के शक्तिशाली सम्राट जरासंध ने अपनी विशाल सेना के साथ इस प्रदेश पर अनेक बार आक्रमण किया था। श्री कृष्ण ने बलराम तथा यादव सेना द्वारा उस आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया था, किन्तु अन्त में जन-संहार को रोकने के लिये वे ब्रज से निष्क्रमण कर द्वारका चले गये थे। उनके साथ बहुसंख्यक यादव और गोप गण भी ब्रज को छोड़ गये। इस प्रकार उस समय ब्रजमंडल प्रायः सूना और निर्जन हो गया था। उनके साथ यादव गण जहाँ जहाँ गये वहाँ वहाँ ब्रज संस्कृति का विस्तार होता गया, किन्तु उसके जन्म-स्थान ब्रज में वह उस समय शिथिल हो गई थी। महाभारत के पश्चात् जब श्री कृष्ण का तिरोधान और द्वारका का दारुणीय अन्त हुआ, तब कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ ने ब्रजमंडल में आकर यादव राज्य की पुनः प्रतिष्ठा के साथ ब्रज संस्कृति का भी पुनः प्रसार किया था। उस समय शास्त्रों व पुराणों के अनुसार शाण्डिल्य ने श्री कृष्ण के वे लीला-स्थल बतलाये थे, जो बहुत ही समय की निर्जनता के कारण जंगली लता गुल्मों से आच्छादित होकर बीहड़ वनों में लुप्तप्राय हो गये थे। वज्र ने कृष्ण लीला के अनुसार उन स्थानों का नामकरण किया और उन पर स्मृति चिह्न बनवाये तथा कुछ प्रमुख लीला स्थलों पर बस्तियाँ बसायी थीं। इस प्रकार श्री कृष्ण के पश्चात् वज्रनाभ ने सर्वप्रथम प्राचीन ब्रज और ब्रज संस्कृति के उच्छिन्न गौरव की परंपरा को पुनः स्थापित किया था।

जब काल के प्रवाह में प्राचीन ब्रज में जैन और बौद्ध धर्मों का प्रभाव बढ़ गया, तब कृष्णोपासना और ब्रज संस्कृति का महत्व कुछ कम हो गया था। उस काल में श्री कृष्ण के जीवन वृत्तान्त और उनके लीला-स्थलों की अपेक्षा जैन-बौद्ध धर्मों के सिद्धांतों और उनके स्तूप चैत्य तथा संघारामों आदि के प्रति लोगों की आस्था बढ़ गई थी। उस काल के यूनानी और चीनी यात्रियों के विवरणों में ब्रज के गौरव और ब्रज संस्कृति की महत्ता के उल्लेख कम मिलते हैं।

वैष्णव धर्म के पुनरुद्धार काल में जब कृष्णोपासना और कृष्ण भक्ति का पुनः प्रचार हुआ, तब ब्रज और ब्रज संस्कृति के गौरव की पुनर्स्थापना का भी प्रयास किया गया था। किंतु उस काल में वह कार्य बड़ा कठिन था। कारण यह है, एक तो शताब्दियों की उपेक्षा से ब्रज और ब्रज संस्कृति की गौरवशाली परंपरा लुप्तप्राय हो गई थी; दूसरे उस काल के नव स्थापित मुसलमानी राज्य का उनके प्रति बड़ा विरोधी दृष्टिकोण था। फिर भी विक्रम की १२वीं से लेकर १६वीं शताब्दी तक के काल में कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यों और उनके अनुयायी भक्तजनों ने नाना प्रकार की कठिनाइयों एवं विपत्तियों को सहन कर बड़े साहस और आत्म बल का परिचय दिया था। भगवान् श्री कृष्ण के जीवन दर्शन से अनुप्राणित और उनकी शिक्षाओं से प्रभावित होकर सर्वश्री निंबार्क, केशव काश्मीरी, माधवेन्द्र, वल्लभ, चैतन्य, हरिवंश, हरिदास, विट्ठल, रूप-सनातन और सूरदास प्रभृति धर्माचार्यों और संत-महात्माओं के कारण ब्रज संस्कृति के एक नये रूप का उदय हुआ, जिसने समस्त देश में नव जीवन का संचार किया था। उन धर्मप्राण महानुभावों का रहन-सहन जहाँ अतिशय त्याग और वैराग्यपूर्ण था, वहाँ उनके दर्शन और उनकी रचनाओं में माधुर्य भक्ति का समावेश था। इस प्रकार उन्होंने श्री कृष्ण के अनुकरण पर भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति के सामंजस्य का आदर्श प्रस्तुत किया था। उन्होंने अपने तप-त्याग और आत्म-बल तथा अपनी विद्वत्ता, माधुर्य-भावना और कला प्रियता से ब्रज के विस्मृत गौरव और ब्रज संस्कृति की उच्छिन्न परंपरा को कृष्ण भक्ति के सुदृढ़ धरातल पर पुनः प्रतिष्ठित कर दिया था।

श्री वल्लभाचार्य अपनी प्रथम देशव्यापी यात्रा करते हुए जब सं० १५५० के लगभग पहिली बार ब्रज में आये थे, तब यह पुरातन प्रदेश दिल्ली के सुलतानों की मजहबी कट्टरता के उत्पीड़न से ग्रस्त था। उन असहिष्णु सुलतानों ने यहाँ पर बने हुए जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्तादि धर्म संप्रदायों के प्रायः सभी मंदिर देवालय नष्ट भ्रष्ट कर दिये थे। उन्होंने मूर्ति पूजा करने और नये मन्दिर बनवाने पर कड़ी पाबंदी लगा दी थी। इस प्रकार यहाँ के धर्मप्राण निवासी अपने उपास्य देव की सेवा-पूजा करने से वंचित हो जाने के कारण बड़े दुखी थे। श्री वल्लभाचार्य ने गोवर्धन में श्रीनाथ जी की सेवा प्रचलित कर और उनके मन्दिर निर्माण का आयोजन कर अपने अदम्य साहस और अपूर्व आत्म बल का परिचय दिया था। उनके कारण उस काल में मथुरा, गोवर्धन और गोकुल की धार्मिक स्थिति में कुछ परिवर्तन होने के साथ ब्रज संस्कृति ने भी अपनी करवट बदली थी। ब्रज के अन्य लीला-स्थलों के पुनरुद्धार और ब्रज संस्कृति के व्यापक प्रचार के लिए उन्हें अपने व्यस्त और थोड़े जीवन में अवकाश नहीं मिला था।

चैतन्य महाप्रभु द्वारा बंगाल में कृष्ण भक्ति का प्रचार किये जाने से बंगीय भक्तों का ब्रज और ब्रज-संस्कृति के प्रति अपूर्व आकर्षण हुआ था। श्री माधवेन्द्रपुरी और ईश्वरपुरी की प्रेरणा से चैतन्य देव ने ब्रज के लीला स्थलों के अनुसंधान करने का आयोजन किया। उसके लिए उन्होंने सं० १५६८ में अपने दो अनुचर सर्वश्री लोकनाथ चक्रवर्ती और भूगर्भ गोस्वामी को ब्रज का सर्वेक्षण करने को भेजा था। वे दोनों भक्तजन कुछ काल तक ब्रज के बीहड़ वनों में भटक कर वापिस चले गये। उन्हें अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। सं० १५७३ में चैतन्य महाप्रभु स्वयं ब्रज में आये थे। उस समय उन्होंने यहाँ के प्रमुख वनों की यात्रा, तीर्थों में स्नान और कतिपय लीला स्थलों एवं देवालयों के दर्शन करने के अतिरिक्त गोवर्धन के निकटवर्ती राधाकुंड नामक

सामजस्य स्थापित कर ब्रज संस्कृति को जन्म दिया था। यह मूलत धार्मिक संस्कृति है इसी लिए इसके प्रत्येक अंग पर धर्मोपासना का गहरा प्रभाव पड़ा है। इसके प्रमुख तत्व स्नेह सौहार्द, सेवा समर्पण और समन्वय सामजस्य हैं, जो कृष्णोपासना की पृष्ठभूमि में पल्लवित होकर फूले फले हैं। ब्रज संस्कृति सत्य-शिव-सुन्दरम् की भावना से ओत प्रोत है। इसीलिए इसे अखिल भारतीय संस्कृति के अंतर्गत इसका सर्वोत्तम स्वरूप कहा जा सकता है।

ब्रज संस्कृति का पावन प्रदेश यह ब्रजमंडल जहाँ श्री कृष्ण के जन्म और उनकी लीलाओं के कारण सौभाग्यशाली है, वहाँ इसका यह बड़ा दुर्भाग्य है कि विगत पाँच सहस्र वर्षों के विविध युगों में यह अनेक बार भीषण विपत्तियों और दुर्घटनाओं से ग्रसित होता रहा है। उसके कारण ब्रज संस्कृति भी अनेक बार बनती बिगड़ती रही है, किंतु उसका सर्वथा लोप कभी नहीं हुआ। यद्यपि 'ब्रज' और 'ब्रज संस्कृति' नाम अधिक प्राचीन नहीं हैं, तथापि इनकी सत्ता और महत्ता कृष्ण काल से ही विद्यमान रही हैं। विगत पाँच सहस्र वर्षों के सुदीर्घ काल में 'ब्रज' और 'ब्रज संस्कृति' ने विविध नाम-रूपों से आत्म प्रकाश करते हुए अनेक भले बुरे दिन देखे हैं। इसके दीर्घकालीन इतिहास की लंबी गाथा के सूत्र अनेक ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं। उनके अन्वेषण और अध्ययन से ब्रज का जो रूप सामने आता है वह बड़ा शिक्षाप्रद, प्रेरणादायक और विचारोत्तेजक है। उससे ज्ञात होता है कि विविध युगों में किस प्रकार ब्रज तथा ब्रज संस्कृति की उन्नति, अवनति एवं पुनरुन्नति हुई थी, और अब इनकी क्या स्थिति है तथा भविष्य की क्या संभावनाएँ हैं।

शूरसेन अर्थात् प्राचीन ब्रजमंडल पर एक बड़ी विपत्ति श्री कृष्ण की विद्यमानता में ही उस समय आई थी जब मगध के शक्तिशाली सम्राट जरासंध ने अपनी विशाल सेना के साथ इस प्रदेश पर भीषण आक्रमण किया था। श्री कृष्ण ने अपनी अपेक्षाकृत छोटी सेना द्वारा उस आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया था, किंतु युद्ध के जन संहार को रोकने के लिए वे ब्रज से निष्क्रमण कर द्वारका चले गये थे। उनके साथ बहुसंख्यक यादव और गोप गण भी ब्रज को छोड़ गये। इस प्रकार उस समय ब्रजमंडल प्राय सूना और निर्जन हो गया था। उसके बाद यादव गण जहाँ जहाँ गये वहाँ वहाँ ब्रज संस्कृति का विस्तार होता गया, किंतु अपने जन्म स्थान ब्रज में वह उस समय शिथिल हो गई थी। महाभारत के पश्चात् जब श्री कृष्ण का तिरोधान और द्वारका का शोचनीय अंत हुआ, तब कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ ने ब्रजमंडल में आकर यादव राज्य की पुन प्रतिष्ठा के साथ ब्रज संस्कृति को भी बल प्रदान किया था। उस समय गोपों के पुरोहित महर्षि शांडिल्य ने श्री कृष्ण के वे लीला स्थल बतलाये थे जो थोड़े ही समय की निर्जनता के कारण जंगली लता गुल्मों से आच्छादित होकर बीहड़ बनों में लुप्तप्राय हो गये थे। वज्र ने कृष्ण लीला के अनुसार उन स्थानों का नामकरण किया और उन पर स्मृति चिन्ह बनवाये तथा कुछ प्रमुख लीला स्थलों पर बस्तियाँ बसायी थीं। इस प्रकार श्री कृष्ण के पश्चात् वज्रनाभ ने सर्वप्रथम प्राचीन ब्रज और ब्रज संस्कृति के उच्छिन्न गौरव की परंपरा को पुन स्थापित किया था।

जब काल के प्रवाह से प्राचीन ब्रज में जैन और बौद्ध धर्मों का प्रभाव बढ़ गया, तब कृष्णोपासना और ब्रज संस्कृति का महत्व कुछ कम हो गया था। उस काल में श्री कृष्ण के जीवन दर्शन और उनके लीला-स्थलों की अपेक्षा जैन बौद्ध धर्मों के सिद्धांतों और उनके स्तूप चैत्य संघारामों आदि के प्रति लोगों की आस्था बढ़ गई थी। उस काल के ग्रंथों और चीनी यात्रियों के विवरणों में ब्रज के गौरव और ब्रज संस्कृति की महत्ता के उल्लेख कम मिलते हैं।

वैष्णव धर्म के पुनरुद्धार काल में जब कृष्णोपासना और कृष्ण भक्ति का पुनः प्रचार हुआ, तब ब्रज और ब्रज संस्कृति के गौरव की पुनर्स्थापना का भी प्रयास किया गया था। किंतु उस काल में वह कार्य बड़ा कठिन था। कारण यह है, एक तो शताब्दियों की उपेक्षा से ब्रज और ब्रज संस्कृति की गौरवशाली परंपरा लुप्तप्राय हो गई थी, दूसरे उस काल के नव स्थापित मुसलमानी राज्य का उनके प्रति बड़ा विरोधी दृष्टिकोण था। फिर भी विक्रम की १२वीं से लेकर १६वीं शताब्दी तक के काल में कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यों और उनके अनुयायी भक्तजनों ने नाना प्रकार की कठिनाइयों एवं विपत्तियों को सहन कर बड़े साहस और आत्म बल का परिचय दिया था। भगवान् श्री कृष्ण के जीवन दर्शन से अनुप्राणित और उनकी शिक्षाओं से प्रभावित होकर सर्वश्री निंबार्क, केशव काश्मीरी, माधवेन्द्र, वल्लभ, चैतन्य, हरिवंश, हरिदास, विट्ठल, रूप-सनातन और सूरदास प्रभृति धर्माचार्यों और संत-महात्माओं के कारण ब्रज संस्कृति का एक नए रूप का उदय हुआ जिसने समस्त देश में नव जीवन का संचार किया था। उन धर्मप्राण महानुभावों का रहन-सहन जहाँ अतिशय त्याग और वैराग्यपूर्ण था, वहाँ उनके उपदेश और उनकी रचनाओं में माधुर्य भक्ति का समावेश था। इस प्रकार उन्होंने श्री कृष्ण के अनुकरण पर भोग और त्याग प्रवृत्ति और निवृत्ति के सामंजस्य का आदर्श प्रस्तुत किया था। उन्होंने अपने तप-त्याग और आत्म बल तथा अपनी विद्वत्ता, माधुर्य-भावना और कला प्रियता से ब्रज के विस्मृत गौरव और ब्रज संस्कृति की उच्छिन्न परंपरा को कृष्ण भक्ति के सुदृढ़ धरातल पर पुनः प्रतिष्ठित कर दिया था।

श्री वल्लभाचार्य अपनी प्रथम देशव्यापी यात्रा करते हुए जब सं० १५५० के लगभग पहिली बार ब्रज में आये थे, तब यह पुरातन प्रदेश दिल्ली के सुलतानों की मजहबी कट्टरता के उत्पीड़न से त्रस्त था। उन असहिष्णु सुलतानों ने यहाँ पर बने हुए जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्तादि धर्म संप्रदायों के प्रायः सभी मंदिर देवालय नष्ट भ्रष्ट कर दिए थे। उन्होंने मूर्ति-पूजा करने और नये मन्दिर बनवाने पर कड़ी पाबंदी लगा दी थी। इस प्रकार यहाँ के धर्मप्राण निवासी अपने उपास्य देव की सेवा-पूजा करने से वंचित हो जाने के कारण बड़े दुखी थे। श्री वल्लभाचार्य ने गोवर्धन में श्रीनाथ जी की सेवा प्रचलित कर और उनके मंदिर निर्माण का आयोजन कर अपने अदम्य साहस और अपूर्व आत्म बल का परिचय दिया था। उनके कारण उस काल में मथुरा, गोवर्धन और गोकुल की धार्मिक स्थिति में कुछ परिवर्तन होने के साथ ब्रज संस्कृति ने भी अपनी करवट बदली थी। ब्रज के अन्य लीला-स्थलों के पुनरुद्धार और ब्रज संस्कृति के व्यापक प्रचार के लिए उन्हें अपने व्यस्त और थोड़े जीवन में अवकाश नहीं मिला था।

चैतन्य महाप्रभु द्वारा बंगाल में कृष्ण भक्ति का प्रचार किए जाने से बंगीय भक्तों का ब्रज और ब्रज संस्कृति के प्रति अपूर्व आकर्षण हुआ था। श्री माधवेन्द्रपुरी और ईश्वरपुरी की प्रेरणा से चैतन्य देव ने ब्रज के लीला स्थलों के अनुसंधान करने का आयोजन किया। उसके लिए उन्होंने सं० १५६८ में अपने दो अनुचर सर्वश्री लोकनाथ चक्रवर्ती और भूगर्भ गोस्वामी को ब्रज का सर्वेक्षण करने को भेजा था। वे दोनों भक्तजन कुछ काल तक ब्रज के बीहड़ वनों में भटक कर वापिस चले गये। उन्हें अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। सं० १५७३ में चैतन्य महाप्रभु स्वयं ब्रज में आये थे। उस समय उन्होंने यहाँ के प्रमुख वनों की यात्रा, तीर्थों में स्नान और कतिपय लीला स्थलों एवं देवालयों के दर्शन करने के अतिरिक्त गोवर्धन के निकटवर्ती राधाकुंड नामक

लुप्त तीर्थ का उद्धार किया था। अन्त में जब वे वृदावन गये तब राधा कृष्ण की रासादि लीलाओं का स्मरण कर वे प्रेमावेश में बार-बार विह्वल होने लगे! उनकी वह दशा देख कर उनके अनुचर उन्हें ब्रज से वापिस ले गये थे। इस प्रकार ब्रज में अधिक समय तक न रहने के कारण चैतन्य महाप्रभु स्वयं यहाँ के लुप्त लीला स्थलों का उद्धार नहीं कर सके। उक्त कार्य के लिए उन्होंने अपने विद्वान पार्षद सवश्री रूप सनातन गोस्वामियों को ब्रज में जाने का आदेश दिया था। उन महानुभावों ने ब्रज में स्थायी रूप से निवास कर प्राचीन अनुश्रुतियों और पौराणिक उल्लेखों के आधार पर ब्रज के अनेक लीला स्थलों का अन्वेषण किया। उसके साथ ही उन्होंने कृष्ण भक्ति के प्रचार और ब्रज संस्कृति के महत्व की स्थापना के लिए अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों की रचना की थी। रूप गोस्वामी कृत ग्रंथों में ब्रज के लीला स्थलों का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए 'मथुरा माहात्म्य' उल्लेखनीय है, जिसे उन्होंने विविध पुराणों के गंभीर मनन के उपरांत सं० १६०० के लगभग रचा था। चैतन्य सम्प्रदाय के एक अन्य विद्वान श्री नारायण भट्ट ने ब्रज के समग्र रूप को प्रकट करने का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया था। उन्होंने ब्रज के समस्त वन उपवन तीर्थ और लीला स्थलों का व्यापक अन्वेषण किया ब्रज यात्रा और रास-लीला का प्रचार किया तथा कृष्ण भक्ति और ब्रज-संस्कृति की महत्ता के स्थापनार्थ अनेक ग्रंथों की रचना की थी। उनके सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'ब्रज भक्ति विलास' की रचना सं० १६०६ में हुई थी। चैतन्य सम्प्रदायी सवश्री सनातन गोस्वामी गोपाल भट्ट कृष्णदास कविराज प्रभृति विशिष्ट विद्वानों की रचनाएँ भी भक्ति क्षेत्र में बड़ी महत्व पूर्ण हैं। किंतु सवश्री रूप गोस्वामी और नारायण भट्ट के ग्रंथ ब्रज संस्कृति की महत्ता सूचक आधारभूत रचनाएँ हैं।

सवश्री हित हरिवंश हरिदास स्वामी, प्रबोधानंद और हरिराम व्यास प्रभृति महात्माओं ने वृंदावन के गौरव की वृद्धि की तथा गोसाई विट्ठलनाथ ने गोवर्धन का माहात्म्य बढ़ाया और गोकुल का नव निर्माण किया था। मुगल सम्राट अकबर का उदार शासन ब्रज संस्कृति के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उस काल में ब्रज के लीला स्थलों में कई शताब्दी के पश्चात् मंदिर एवं देव स्थान बनवाये गये और कृष्णोपासना की पृष्ठभूमि में विविध कलाओं का व्यापक प्रचार हुआ था। उस समय ब्रज संस्कृति के सभी अंगों की अभूतपूर्व उन्नति हुई थी।

वल्लभ सम्प्रदायी गोसाई विट्ठलनाथ जी के वंशज सवश्री गोकुलनाथ जी और हरिराय जी ने ब्रजभाषा गद्य में वार्ता साहित्य की रचना द्वारा कृष्ण भक्ति की पुष्टि और ब्रज संस्कृति के प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया था। इसी सम्प्रदाय के एक भक्त जन जगतनंद ने अपनी रचनाओं द्वारा ब्रज के स्वरूप का स्पष्टीकरण और ब्रज यात्रा का विवरण प्रस्तुत किया था। उसकी ब्रज भाषा पद्य की रचनाएँ ब्रज वस्तु वर्णन ब्रज ग्राम वर्णन और श्री गुसाई जी की वन यात्रा सं० १७३० के लगभग लिखी गई थी। चैतन्य सम्प्रदायी गोपाल कवि ने सं० १९०० में श्री वृंदावन धामानुरागावली ग्रंथ की रचना की थी। इस पद्यात्मक ग्रंथ में तत्कालीन वृंदावन के प्रायः सभी दर्शनीय स्थल मंदिर देवालय देव विग्रह और संत महात्माओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है।

अंगरेजी शासन काल में सं० १९२६ से १९३४ तक मथुरा का जिलाधीश श्री ग्राउस नामक एक विद्वान् अंगरेज था। वह विदेशी होते हुए भी ब्रज संस्कृति के पुनरुद्धार में बड़ा सहायक हुआ था। उसने वृंदावन के ध्वंसप्राय गोविंददेव जी के प्राचीन मंदिर का जीर्णोद्धार कराया,

वहाँ के घाटों की मरम्मत कराई और गोकुल की पुरानी बस्ती के गली बाजारों को दुरुस्त कराया था। उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय की आरंभिक व्यवस्था और ब्रज की प्राचीन परंपरा का अन्वेषण करना था। प्रशासकीय कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी उसने बड़े परिश्रम और लगन के साथ ब्रज का ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक अनुसंधान कर जो बहुमूल्य तथ्य एकत्र किये थे वे अंग्रेजी भाषा में 'मथुरा-ए डिस्ट्रिक्ट मेमोयर' नामक ग्रंथ में प्रकाशित किये गये। उसने पहिले ब्रज के परिचायक जो ग्रंथ उपलब्ध थे वे या तो संस्कृत में रचे हुए पुराण थे और पौराणिक शैली की अन्य कृतियाँ थीं अथवा ब्रजभाषा में लिखी हुई उसी शैली की पद्यात्मक रचनाएँ थीं। श्री ग्राउस का उक्त ग्रंथ नवीन दृष्टिकोण से ब्रज के इतिहास के लेखन और प्रकाशन का आरंभिक प्रयत्न था। उसका प्रथम संस्करण सं० १९२१ में, द्वितीय संशोधित संस्करण सं० १९३७ में और तृतीय परिवर्धित संस्करण सं० १९४० में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि इस ग्रंथ की अनेक बातें अब अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण जान पड़ती हैं, तथापि इसका बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। अब तक ब्रज के संबंध में जितनी रचनाएँ निकली हैं उनमें ग्राउस के ग्रंथ का थोड़ा बहुत उपयोग अवश्य किया गया है। यदि यह ग्रंथ न होता, तो ब्रज से संबंधित बहुत सी बातें अज्ञात ही रह जातीं।

मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय की बहुमूल्य सामग्री और उसके सुयोग्य संग्रहाध्यक्षों की सेवाओं द्वारा ब्रज के सांस्कृतिक अनुसंधान में बड़ा योग मिला है। विद्वद्वर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल जब मथुरा के संग्रहाध्यक्ष थे, तब उन्होंने ब्रज के ऐतिहासिक, पुरातात्विक और सांस्कृतिक अन्वेषण का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया था। उनके विविध कार्यों में श्री कृष्ण-जन्मस्थान का अन्वेषण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उक्त स्थल की प्राचीन अनुश्रुति को उन्होंने पुरातत्व की सामग्री से सपुष्ट कर सं० १९९४ में उसके इतिहास पर एक गवेषणापूर्ण निबंध प्रकाशित किया था। आज मथुरा के श्री कृष्ण-जन्मस्थान का जो निर्विवाद महत्व है, उसका श्रेय डा० अग्रवाल जी की स्थापना को ही है। डा० सत्येन्द्र जी जब मथुरा में अध्यापक थे, तब उन्होंने ब्रज की साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रगति में बड़ा योग दिया था। श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी और श्री हरिशंकर जी शर्मा की प्रेरणा तथा सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार, डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल और डा० सत्येन्द्र जी के प्रयत्न से कार्तिक कृ० ५ सं० १९९७ (दिनांक २० अक्टूबर सन् १९४०, रविवार) को मथुरा में जिस 'ब्रज साहित्य मंडल' की स्थापना हुई, उसने ब्रज की गौरव-वृद्धि का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। उसकी मुख पत्रिका 'ब्रज भारती' में ब्रज की बहुमूल्य साहित्यिक सामग्री प्रकाशित हुई है।

ब्रज के संबंध में अब तक जो कई छोटी-बड़ी परिचयात्मक और इतिहास-परक रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं उनमें श्री युगलकिशोर चतुर्वेदी कृत 'मथुरा-महिमा' (सं० १९९१) डा० वासुदेव शरण जी के प्रधान संपादकत्व में प्रस्तुत विशाल 'पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ' (सं० २०१०) और श्री कृष्णदत्त वाजपेयी कृत 'ब्रज का इतिहास' (भाग १–सं० २०११, भाग २–सं० २०१५) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डा० सत्येन्द्र जी ने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों के अतिरिक्त लोक संस्कृति के अध्ययन संबंधी कई गवेषणापूर्ण रचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। उनमें ब्रज लोक संस्कृति (सं० २००५), ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन (सं० २०१४), मध्ययुगीन हिंदी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन (सं० २०१७) और लोक साहित्य विज्ञान (सं० २०१९) अपने विषय की अनुपम रचनाएँ हैं। इनसे ब्रज की लोक संस्कृति विषयक बहुमूल्य सामग्री प्रकाश में आई है। इन सभी रचनाओं की

आवश्यक सामग्री का इस ग्रंथ के विविध खंडों में यथा स्थान उपयोग किया गया है। इस प्रकार सर्वश्री रूप गोस्वामी नारायण भट्ट, जगतनंद गोपाल कवि, ग्राउस, वासुदेवशरण अग्रवाल सत्येन्द्र और कृष्णदत्त वाजपेयी जैसे विद्वानों ने समय समय पर ब्रज संस्कृति के अध्ययन का जो राज मार्ग निर्मित किया उसी पर चलते हुए मैंने इस ग्रंथ की रचना की है। यदि मेरे द्वारा उन अग्रगामियों के मार्ग को कुछ भी प्रशस्त किया जा सका, तो मैं अपने प्रयत्न को सार्थक समझूँगा।

× × ×

श्री कृष्ण द्वारा प्रवर्तित और अगणित महानुभावों द्वारा विकसित ब्रज की महान् संस्कृति का क्षेत्र अत्यंत विशाल है और इसका इतिहास बड़ा लंबा है। इसने विविध कालों में भारतीय धर्म, कला साहित्य और लोक जीवन को समृद्ध करने में बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया है। उस गौरवपूर्ण योग दान के यथार्थ स्वरूप का यथावत् दर्शन शब्दों द्वारा कराना बड़ा कठिन है। इस ग्रंथ में तो उसके विशद और भव्य रूप की एक झाँकी मात्र ही प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। यह ग्रंथ ६ खंडों में पूरा हुआ है, जिनके नाम हैं—१ ब्रज-संस्कृति की भूमिका २ ब्रज का इतिहास, ३ ब्रज के धर्म संप्रदाय, ४ ब्रज की कलाएँ ५ ब्रज का साहित्य और ६ ब्रज की लोक संस्कृति। इस ग्रंथ के प्रथम दो खंड इस भाग में प्रकाशित किये गये हैं। शेष चार खंड अन्य भागों में प्रकाशित होंगे। यहाँ पर प्रथम दो खंडों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। शेष खंडों का परिचय अन्य भागों के प्राक्कथन में दिया जावेगा।

प्रथम खंड 'ब्रज संस्कृति की भूमिका' में सात अध्याय हैं—१ ब्रज की रूपरेखा और उसका महत्व २ ब्रज का प्राकृतिक और भौगोलिक वर्णन ३ ब्रज के पशु पक्षी और जीव जंतु ३ ब्रज की मानव जातियाँ, ५ ब्रज संस्कृति के उपकरण—ब्रज की सांस्कृतिक यात्रा ६ ब्रज की रासलीला ७ ब्रज के उत्सव त्योहार और मेले। इस प्रकार इस खंड में ब्रज संस्कृति के प्रमुख अंगों का सर्वेक्षण करते हुए उसकी पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया है।

प्रथम अध्याय 'ब्रज की रूपरेखा और उसका महत्व' में ब्रज के नामकरण, ब्रज के विस्तार ब्रज के विविध रूप और ब्रज के प्राचीन गौरव का विशद विवेचन किया गया है। इसमें ब्रज के विस्तार और उसके रूपों के संबंध में अधिकतर मौलिक सामग्री है, जिसके स्पष्टीकरण के लिए कई मानचित्र भी दिये गये हैं। इन मानचित्रों को प्रचुर अन्वेषण और पर्याप्त अर्थ व्यय के उपरांत तैयार कराया गया है। ब्रज की दीर्घकालीन परंपरा में इसके कई रूप उभर कर आये हैं जो विविध युगों में अपना अपना महत्व प्रदर्शित करते रहे हैं। इनमें ब्रज का राजनैतिक रूप तो कभी स्थिर नहीं रहा, किंतु इसके धार्मिक स्वरूप की सत्ता और महत्ता स्थायी रही है। इसी के अंतर्गत 'सांप्रदायिक ब्रज' के रूप में चौरासी कोस की परिधि का वह भू भाग है, जो वास्तविक ब्रज माना जाता है। इसके दर्शन और परिभ्रमण के लिए ही ब्रज यात्रा की परंपरा प्रचलित हुई है। इसके सांस्कृतिक और भाषायी रूप वृहत्तर ब्रज और ब्रजभाषा क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। ब्रज का अधिकांश भाग उत्तर प्रदेश में और शेष भाग राजस्थान एवं हरियाना में है, इसलिए यह एक राजनैतिक इकाई के रूप में संगठित नहीं है। फिर भी इसका सांस्कृतिक रूप एक ऐसा स्वायत्त संगठन है जो यह सिद्ध करता है कि राजनैतिक एकता की अपेक्षा सांस्कृतिक ऐक्य अधिक अविचल और स्थायी होता है।

द्वितीय अध्याय ब्रज का प्राकृतिक और भौगोलिक वर्णन ब्रज के उस नैसर्गिक रूप की झाँकी प्रस्तुत करता है, जिसके लिए समस्त भारत से लाखों यात्री प्रति वर्ष आते हैं और दिव्य सुख का अनुभव करते हैं। यद्यपि ब्रज के पहाड़ी टीले नदी-नाले कुंड सरोवर, वन उपवन, कुंज-कदमखंडी आदि का प्राकृतिक सौन्दर्य पूर्ववत् नहीं रहा, तथापि इसकी महत्ता और पवित्रता की छाप यात्रियों के हृदय में ऐसी दृढ़ता से जमी होती है कि वे इसके शोभा विहीन भग्न रूप पर ही मुग्ध हो जाते हैं। काल के कुटिल प्रभाव से ब्रज की पावन पहाड़ियाँ खंडित होकर रोड़ियाँ और गिट्टियों के रूप में सड़कों पर बिछ गईं, ब्रज की सदानीरा गंभीर यमुना बरसाती नदी बन गई और सदैव जल से भरे रहने वाले कुंड सरोवर सूख गये, ब्रज के सघन वन-उपवनों को काट कर उनमें बस्तियाँ बसा दी गईं और ब्रज की मनोरम कुंजों के प्राकृतिक स्वरूप को नष्ट कर उन्हें ऊहड़ आवासों में परिवर्तित कर दिया गया, राजस्थानी रेगिस्तान ने भीषण आक्रमण कर ब्रज की हरियाली को धूल में मिला दिया, फिर भी ब्रज में अभी कुछ ऐसे स्थल शेष हैं, जहाँ का स्वाभाविक सौन्दर्य दर्शकों के मन को बरबस मोह लेता है। नंदगाँव, बरसाना और कामबन के अंचलों में वे स्थल ब्रज के पुरातन स्वरूप को अपने में सजोए हुए हैं।

तृतीय अध्याय ब्रज के पशु पक्षी और जीव जंतुओं से संबंधित है। जब ब्रज में वन-उपवनों की बहुलता थी, तब यहाँ विविध प्रकार के पशु-पक्षियों और जीव-जंतुओं का भी बड़ा आधिक्य था। ब्रज के इतिहास और ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं में इनके पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। इस अध्याय में तत्संबंधी रोचक सामग्री प्रस्तुत की गई है, जिसे ब्रजभाषा कवियों की सरस उक्तियों से संपुष्ट किया गया है। ब्रज संस्कृति में पशुओं में गाय और पक्षियों में मोर का बड़ा महत्व माना गया है। वर्तमान काल की भौतिक सभ्यता भी गाय को देश की आर्थिक समृद्धि का आधार मानती है और मोर तो सरकारी आदेश से राष्ट्रीय पक्षी ही घोषित किया गया है। ऐसी दशा में ब्रज के इन परंपरागत पशु-पक्षियों का संरक्षण करना सर्वथा वांछनीय है।

चतुर्थ अध्याय 'ब्रज की मानव जातियाँ' विषयक है। इसमें ब्रज की लुप्तप्राय यक्ष, नाग और आभीर जातियों का खोजपूर्ण वर्णन है और कुछ प्राचीन जातियों से संबंधित महत्वपूर्ण सामग्री है। वर्तमान जातियों में यादवों का महत्व अधिक है क्यों कि इनकी परंपरा श्री कृष्ण से संबंधित मानी जाती है। जाट मूलतः एक कृषिजीवी जाति है जो बहुत बड़ी संख्या में ब्रज में बसी हुई है। विदेशी शासन के अत्याचारों ने इसे सैनिक शक्ति बना दिया है। इस जाति के वीर पुरुषों ने मुसलमानी शासन काल में अनेक कष्टों को सहते हुए भी अत्याचारों का विरोध किया था और फिर ब्रज में स्वतंत्र हिंदू राज्य की स्थापना की थी। डीग और भरतपुर के जाट राजाओं ने 'ब्रजेन्द्र' अथवा 'ब्रजराज' के विरुद धारण कर ब्रज के प्रति अपने अधिकारपूर्ण ममत्व का परिचय दिया है। ब्रज की इस ऐतिहासिक जाति की गौरव-गाथा इस अध्याय में और अन्यत्र कुछ विस्तार से लिखी गई है।

पंचम अध्याय में 'ब्रज संस्कृति के उपकरणों' का उल्लेख करते हुए 'ब्रज की सांस्कृतिक यात्रा' का विशद वर्णन किया गया है। ब्रज के वन उपवन, कुंज-कदमखंडी, कुंड-सरोवर, लीला स्थल और ऐतिहासिक स्थान तथा मंदिर-देवालय और महात्माओं के निवास-स्थल आदि के एक साथ दर्शन करने का सुगम साधन ब्रज की 'यात्रा' है, जिसका आयोजन प्रति वर्ष बड़े ठाट से किया

जाता है। इस अध्याय म इन यात्रा की परपरा और इसके इतिहास, यात्रा सबधी विविध ग्रथ तथा यात्रा के समस्त स्थलो और दर्शनीय वस्तुओ का खोजपूर्ण विशद वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह अध्याय ब्रज के सास्कृतिक स्वरूप की स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करने के कारण अत्यत उपयोगी है

छठे अध्याय म 'ब्रज की रास लीला' का अनुसधानात्मक विस्तृत वर्णन है। 'रास ब्रज का लोक प्रसिद्ध और धर्म प्रधान 'सगीत रूपक है। इसम नृत्य, नाट्य, गायन, वादन और काव्यादि कलाओ का धर्मोपासना के साथ ऐसा समन्वय किया गया है कि यह ब्रज सस्कृति का सर्वाधिक समर्थ उपकरण ही नही, वरन् इसके सामूहिक स्वरूप का प्रतीक बन गया है। इस अध्याय म रास के प्रादुर्भाव और इसकी परपरा का शोधपूर्ण वर्णन करने क अनतर वैष्णव धर्माचार्यों द्वारा इसके पुनरुद्धार किये जाने का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। इसी प्रसग म विस्तृत समीक्षा के बाद यह बतलाया गया है कि सर्वश्री वल्लभाचार्य, हरिदास स्वामी, घमडदेव, नारायण भट्ट, हित हरि वश और विट्ठलनाथ आदि महानुभावा म से रास के प्रारभकर्त्ता होने का श्रेय किसको दिया जा सकता है। इसक बाद रास रसिक महात्माओ और इसकी प्रचारक रास मडलियों का खोजपूर्ण वर्णन है तथा रास के रूप विधान का कलात्मक विवेचन है। अत म रास के विशाल ब्रजभाषा साहित्य का परिचय और उसके कुछ सरस पदो का सकलन है। इस प्रकार इस अध्याय म ब्रज सस्कृति क इस आवश्यक अग से सबधित बडी बहुमूल्य सामग्री है।

सातवाँ अध्याय 'ब्रज के उत्सव, त्यौहार और मेलो' से सबधित है। जहाँ 'सात वार, नौ त्यौहार' की कहावत प्रचलित हो, वहाँ इस प्रकार क आयोजनो की अधिकता होना स्वाभाविक है। ब्रज के उत्सव, त्यौहार और मेले अपनी प्राचीन परपरा तथा अपने भव्य रूप के कारण समस्त देश म प्रसिद्ध हैं। इसीलिए इनका आनद प्राप्त करन के लिए प्रति वर्ष लाखो यात्री भारतवर्ष के विभिन्न स्थानो स ब्रज में आते हैं। इस अध्याय मे ऋतुओ और महीनो के क्रम से ब्रज के प्राय सभी उत्सव, त्यौहार और मेला का बडा रोचक और खोजपूर्ण वर्णन किया गया है। ब्रजभाषा कविया की रचनाओ म भी अनेक उत्सव-त्यौहारो का सरस कथन मिलता है। उनके कतिपय उद्धरण इसी प्रसग मे दिय गये हैं। 'होली ब्रज का सर्वप्रधान उत्सव-त्यौहार है। उसके पश्चात् श्रावण के झूलनोत्सव का महत्व माना जाता है। इन प्रधान उत्सवा का इस अध्याय मे विस्तार से वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय के अतर प्रथम खड की समाप्ति हुई है।

× × ×

द्वितीय खड म 'ब्रज का इतिहास' वर्णित है। इसके विविध अध्याया म ब्रज के राजनैतिक विकास और ह्रास की कथा का[illegible] [illegible] लिखी गई है। किसी भी प्रदेश की सस्कृति पर वहाँ की राजनैतिक स्थिति का बहुत [illegible] है। ब्रज की दीर्घकालीन सास्कृतिक परपरा भी यहाँ के विविध युगो की राजनैतिक [illegible] रही है। इसलिए [illegible] सास्कृतिक विका[illegible] [illegible] करने के [illegible] की भूमिका' के [illegible] [illegible]ड मे 'ब्रौ[illegible] [illegible] उस पृष्ठभूमि [illegible] भव्य भव [illegible]

इस खंड का प्रथम अध्याय 'आदि काल' से संबंधित है। इसमें प्रागैतिहासिक काल से लेकर शुंग काल अर्थात् विक्रमपूर्व सं० ४३ तक की घटनाओं पर प्रकाश डाला गया है। यह अध्याय जितनी लंबी कालावधि को समेटे हुए है, उतना ही अधिक महत्वपूर्ण भी है। इसमें वैदिक काल, कृष्ण काल, बुद्ध महावीर काल और मौर्य शुंग काल की प्रमुख घटनाएँ क्रमानुसार वर्णित हैं। उस युग में ब्रजमंडल शूरसेन जनपद कहलाता था। श्री कृष्ण ब्रज संस्कृति के निर्माता थे और उन्हीं के परिकर गोपों और सात्वत वंशीय यादवों में इसका सर्वप्रथम प्रचार हुआ था। इस लिए श्री कृष्ण के जीवन-दर्शन और उनके काल की घटनाओं पर विस्तार से विचार करना आवश्यक समझा गया है। उन घटनाओं को पौराणिक शैली के अलौकिक आवरण से निकाल कर उन्हें ऐतिहासिक धरातल पर लौकिक और बुद्धिगम्य रूप में ही प्रस्तुत करने का यथासंभव प्रयत्न किया है। मगध सम्राट जरासंध के लगातार आक्रमणों के कारण श्री कृष्ण के साथ बहु-संख्यक यादव गण प्राचीन ब्रज को छोड़ कर द्वारका चले गये थे और वहाँ से उनका समस्त भारत में विस्तार हुआ था। फलतः उनके साथ ब्रज संस्कृति के तत्व भी सर्वत्र व्याप्त हो गये थे। बुद्ध महावीर काल की धार्मिक क्रांति के अवरोध से ब्रज संस्कृति की गतिशील धारा एक बार मंद पड़ गई थी किंतु कालांतर में वह फिर प्रबल वेग से प्रवाहित होने लगी थी। बौद्ध काल की घटनाओं में भगवान् बुद्ध के मथुरा आगमन और उनके द्वारा यहाँ के दुर्दमनीय यक्षों के आतंक को दूर करने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। किंतु बुद्ध के आवागमन वाले मार्ग के कतिपय स्थलों की पहिचान के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इस अध्याय में भगवान् बुद्ध के मार्ग के दो स्थल 'वरंज' और 'भातला' पर प्रथम बार निर्णयात्मक प्रकाश डाला गया है। जैन तीर्थंकरों और विशेष कर अंतिम केवली जम्बू स्वामी का मथुरा से जो संबंध था, उसने उस काल के ब्रज के इतिहास को गौरव प्रदान किया है। मौर्य काल में मथुरा में एक बौद्ध धर्माचार्य उपगुप्त हुआ था। उसने मथुरा की नगर वधू वासवदत्ता को सन्मार्ग पर आरूढ़ कर और सम्राट अशोक को बौद्ध धर्म के विस्तार की प्रेरणा देकर बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। शुंग काल में ब्रज संस्कृति के प्राण भागवत धर्म की बड़ी उन्नति हुई थी। उस काल में भारतीयों के अतिरिक्त विदेशी भी इससे प्रभावित हुए थे। यूनानी राजदूत होलियोदोर द्वारा भगवान् वासुदेव के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए गरुड़ध्वज की स्थापना करना ब्रज संस्कृति के तत्कालीन व्यापक प्रभाव का सूचक है। इस अध्याय में उपर्युक्त सभी महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख करने के उपरांत अंत में इस दीर्घ काल की उल्लेखनीय उपलब्धियों की विस्तृत समीक्षा की गई है।

द्वितीय अध्याय 'पूर्व मध्य काल' में विक्रमपूर्व सं० ४३ से विक्रम सं० ६०० तक की घटनाएँ वर्णित हैं। उस काल में ब्रजमंडल शूरसेन प्रदेश की अपेक्षा 'मथुरामंडल' अथवा 'मथुरा राज्य' कहा जाने लगा था। इस अध्याय के आरंभ में शक और कुषाण जैसी विदेशी जातियों के आक्रमण और उनके द्वारा यहाँ राज्य स्थापन करने का उल्लेख किया गया है। उन विदेशी जातियों ने पहिले ब्रज संस्कृति को कुछ क्षति पहुँचाई था, किंतु बाद में उसके व्यापक प्रभाव से वे ऐसे पराभूत हुए कि उन्होंने भारतीयों से भी अधिक इसकी प्रगति में योग दिया था। शक राज-महिषी कुमुइअ (कंबोजिका) ने मथुरा में धार्मिक कार्यों के लिए स्तूप और बिहार का निर्माण कराया और उसके पुत्र शोडास (सुदास) के शासन काल में भागवत धर्म के अनुयायी किसी वसु नामक धार्मिक जन ने कृष्ण-जन्मस्थान पर भगवान् वासुदेव के चतुःशाला महा स्थान (मंदिर) में

तोरण और वेदिका की व्यवस्था की थी। कुषाण काल में निर्मित कृष्ण लीला का एक शिला-खंड भी मिला है, जिसे अब तक उपलब्ध श्री कृष्ण की सबसे प्राचीन मूर्ति कहा जा सकता है। मथुरा मंडल मे वासुदेव कृष्ण के मंदिर और उनकी मूर्ति की विद्यमानता के ये सबसे प्राचीन प्रमाण हैं, जो इतिहास और पुरातत्त्व के साक्ष्य से अब से प्राय दो हजार वर्ष पहिले के सिद्ध होते हैं। कुषाण काल मे और विशेष कर सम्राट कनिष्क के शासन मे प्राचीन ब्रज अर्थात् मथुरामंडल की बडी सांस्कृतिक प्रगति हुई थी। उस काल मे यहाँ व्यापार-वाणिज्य के साथ ही साथ धर्मोपासना और विद्या कला की भी बडी उन्नत अवस्था थी। मूर्ति कला के लिए तो मथुरा नगर भारतवर्ष मे सब से बडा केन्द्र माना जाता था। उस काल के मथुरामंडल की सांस्कृतिक समृद्धि ने समस्त देश को चमत्कृत कर दिया था। कुषाणों का विदेशी शासन भारत के नाग राजाओं द्वारा समाप्त किया गया। यादव गण के पश्चात् कदाचित नागों ने ही मथुरामंडल मे स्वाधीन राज्य की स्थापना की थी, अत उनका शासन काल प्राचीन ब्रज के इतिहास के लिए बडा महत्वपूर्ण है। नागों के पश्चात् गुप्तों का गौरवशाली शासन आरंभ हुआ। गुप्त काल भारतवर्ष के इतिहास मे 'स्वर्ण युग' के नाम से प्रसिद्ध है, क्यों कि गुप्त सम्राटों के शासन मे इस देश की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक विद्या विषयक और कला संबंधी उन्नति चरमसीमा पर पहुच गई थी। उनकी राजधानी प्राचीन मगध का प्रसिद्ध नगर पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) थी। परम भागवत गुप्त सम्राटों द्वारा ब्रज की प्राचीन संस्कृति की प्रगति को भी बडा बल मिला था। महान् गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने मथुरा के कृष्ण-जन्मस्थान पर एक भव्य मन्दिर बनवाया था, जो ५ वी शताब्दी से ११ वी शताब्दी तक वासुदेव कृष्ण की उपासना का प्रमुख केन्द्र रहा था और जिसने ब्रज की प्राचीन संस्कृति और धार्मिक भावना के प्रसार मे बडा योग दिया था। दिल्ली मे कुतुब मीनार के निकट महरौली नामक स्थल पर एक प्राचीन लौह स्तंभ है जिस पर किसी 'चंद्र' राजा की प्रशस्ति अंकित है। यह निश्चित है कि वह स्तंभ किसी अन्य स्थल से हटा कर वहाँ लगाया गया है, किंतु वह पहले किस स्थान पर था इसके संबंध मे विद्वानों मे बडा विवाद है। हमारा अनुमान है वह लौह स्तंभ वास्तव मे 'विष्णुध्वज' है जिसे चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने यशस्वी पिता समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के साथ मथुरा के कृष्ण-जन्मस्थान वाले अपने मंदिर मे लगवाया था। इस विषय पर विद्वानों को विचार करना चाहिए। गुप्त शासन के अंतिम काल में विदेशी बर्बर हूणों ने मथुरामंडल पर भीषण आक्रमण किया था जिससे यहाँ की बडी सांस्कृतिक हानि हुई थी। हूण लोग पश्चिमोत्तर सीमांत और पंचनद प्रदेश मे धुआधार करते हुए तूफान की सी तेजी से मथुरामंडल में आये थे और यहाँ भीषण लूट मार कर मध्य भारत तक बढ गये थे। अंत मे मंदसर (मालवा) के वैश्य जातीय वीरश्रेष्ठ यशोधर्मन ने उन्हें पराजित किया था। उसके बाद हूण लोग भारतीय धर्म और संस्कृति को स्वीकार कर यहाँ बस गये और यहाँ की विभिन्न जातियों में घुल मिल गये थे। हूणों की एक बहुत बडी संख्या ब्रज संस्कृति को स्वीकार कर मथुरा मंडल मे भी बस गई थी। मथुरा नगर के 'मिहारपुरा' मुहल्ला मे संभवत पहले हूणों की ही बस्ती थी और हूण नेता मिहिर कुल के नाम पर उस मुहल्ला का नामकरण हुआ होगा। हूणों को पराजित करने वाला वीरवर यशोधर्मन भारत के गौरवशाली विक्रमादित्यों की परंपरा मे अंतिम था। उपर्युक्त इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं के विशद वर्णन के अनंतर इस अध्याय के अंत मे उस काल की कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियों की समीक्षा की गई है।

तृतीय अध्याय मध्य काल में विक्रम सं० ६०० से १२६३ तक की घटनाएँ लिखी गई हैं। इस काल में भारत की राजनैतिक गति विधियों का केन्द्र पाटलिपुत्र (पटना) की अपेक्षा गंगा-यमुना के दोआब स्थित कान्यकुब्ज (कन्नौज) हो गया था और वहाँ का यशस्वी शासक हर्षवर्धन अंतिम भारतीय सम्राट था। उस काल में चीन का बौद्ध यात्री हुएनसांग भारत-भ्रमण के लिए आया था। उसका लिखा हुआ यात्रा-वृत्तांत उस काल की भारतीय स्थिति का जानने के लिए बड़ा उपयोगी है। वह विदेशी यात्री सं० ६९२ में मथुरा भी आया था। उसने मथुरामंडल की तत्कालीन स्थिति के संबंध में जो कुछ लिखा है उससे ज्ञात होता है कि ७ वीं शताब्दी में 'मथुरा राज्य' एक बड़ी राजनैतिक इकाई था। उसकी सीमाएँ प्रायः वही थी जो आजकल के 'सांस्कृतिक ब्रज' अथवा ब्रजभाषा क्षेत्र के अधिकांश भाग की हैं। उस समय का मथुरा राज्य हर्ष के साम्राज्य का एक भाग था अथवा स्वाधीन राज्य, इसके संबंध में विद्वानों में मतभेद है। हर्षवर्धन के पश्चात् इस देश में जो अनेक युगांतरकारी घटनाएँ हुई थीं, उनमें तीन ऐसी हैं जिन्होंने मथुरामंडल को भी बड़ा प्रभावित किया था। वे घटनाएँ थीं—१ बौद्ध धर्म का पतन और उसकी भारत में समाप्ति २ राजपूत राजाओं का उदय और उनके विभिन्न राज्यों की स्थापना ३ इस्लाम मजहब का प्रसार और मुसलमानों का भारत पर आक्रमण। बौद्धधर्म का पतन होने पर पौराणिक (हिंदू) धर्म का उत्थान हुआ था और मथुरा उसका प्रमुख केन्द्र बन गया था। राजपूतों के विविध राज्यों की स्थापना से मथुरामंडल का राजनैतिक महत्व तो कम हो गया, किंतु उसका धार्मिक महत्व बहुत बढ़ गया था। उसका कारण यह था कि उस काल के राजपूत राजा गण प्रायः उसी पौराणिक धर्म के अनुयायी थे, जिसका मथुरामंडल एक बड़ा केन्द्र था। मुसलमानों के आक्रमण से इस देश की जो भीषण आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षति हुई थी, उसका कुफल मथुरामंडल को सबसे अधिक भोगना पड़ा था। मुसलमान आक्रमणकारियों में महमूद गजनवी पहिला व्यक्ति था, जिसने अपनी भयकर लूट मार में सं० १०७४ में मथुरामंडल का सर्वनाश कर दिया था। उस बर्बर लुटेरे ने अपने मजहबी तास्सुब और लूट के लालच में मथुरा के सैकड़ों समृद्धिशाली मंदिर-देवालयों के साथ कृष्ण-जन्मस्थान वाला वह प्रसिद्ध मंदिर भी नष्ट कर दिया था जिसे प्रायः ६ शताब्दियों पूर्व चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने बनवाया था। उन मन्दिरों में भेंट से प्राप्त जो विपुल संपत्ति कई शताब्दियों से एकत्र होती आ रही थी, उन सबको उस विदेशी आक्रमणकारी ने एक ही झपाट में लूट लिया और उसे वह सैंकड़ों ऊँटों पर लाद कर गजनी ले गया। महमूद गजनवी के धुँआधार आक्रमण और उसकी भीषण लूट का वर्णन जिन मुसलमान इतिहास-लेखकों ने किया है, उनमें से एक अल उत्वी ने मथुरा के तत्कालीन वीर सेनानायक कुलचंद (कुलचंद्र) का बड़ा आश्चर्यजनक वृत्तांत लिखा है। उसके कथन से ज्ञात होता है कि कुलचंद्र एक बड़े राज्य का स्वामी था। उसके अधिकार में विशाल सेना थी और सुदृढ दुर्ग था जो वर्तमान महाबन के निकट बना हुआ था। उस समय महाबन में बड़े बड़े भवन एवं मन्दिर थे और मथुरा नगर तो सैकड़ों समृद्धिशाली भवनों एवं मन्दिर-देवालयों का एक विशाल केन्द्र ही था। कुलचंद्र ने मथुरामंडल की प्रतिरक्षा के लिए महमूद गजनवी से बड़ा भीषण युद्ध किया, जिसमें उस वीर-पुंगव का बलिदान हुआ था। कुलचंद्र के विषय में अल उत्वी के उक्त कथन के अतिरिक्त कोई अन्य ऐतिहासिक उल्लेख अथवा पुरातात्विक प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसा अनुमान होता है, वह मथुरामंडल के प्राचीन यादव वंश का कोई वीर पुरुष था, जिसने उस काल में अपने स्वाधीन राज्य की स्थापना

तोरण और वेदिका की व्यवस्था की थी। कुषाण काल में निर्मित कृष्ण-लीला का एक शिला खंड भी मिला है जिसे अब तक उपलब्ध श्री कृष्ण की सबसे प्राचीन मूर्ति कहा जा सकता है। मथुरा मंडल में वासुदेव कृष्ण के मन्दिर और उनकी मूर्ति की विद्यमानता के ये सबसे प्राचीन प्रमाण हैं, जो इतिहास और पुरातत्व के साक्ष्य में अब से प्राय दो हजार वर्ष पहिले के सिद्ध होते हैं। कुषाण काल में और विशेष कर सम्राट कनिष्क के शासन में प्राचीन ब्रज अर्थात् मथुरामंडल की बड़ी सांस्कृतिक प्रगति हुई थी। उस काल में यहाँ व्यापार-वाणिज्य के साथ ही साथ धर्मोपासना और विद्या कला की भी बड़ी उन्नत अवस्था थी। मूर्ति कला के लिए तो मथुरा नगर भारतवर्ष में सब से बड़ा केन्द्र माना जाता था। उस काल के मथुरामंडल की सांस्कृतिक समृद्धि ने समस्त देश को चमत्कृत कर दिया था। कुषाणों का विदेशी शासन भारत के नाग राजाओं द्वारा समाप्त किया गया। यादव गण के पश्चात् कदाचित नागों ने ही मथुरामंडल में स्वाधीन राज्य की स्थापना की थी, अत उनका शासन काल प्राचीन ब्रज के इतिहास के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है। नागों के पश्चात् गुप्तों का गौरवशाली शासन आरंभ हुआ। गुप्त काल भारतवर्ष के इतिहास में 'स्वर्ण युग' के नाम से प्रसिद्ध है, क्या कि गुप्त सम्राटों के शासन में इस देश की राजनैतिक धार्मिक,आर्थिक विद्या विषयक और कला संबंधी उन्नति चरमसीमा पर पहुंच गई थी। उनकी राजधानी प्राचीन मगध का प्रसिद्ध नगर पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) थी। परम भागवत गुप्त सम्राटों द्वारा ब्रज की प्राचीन संस्कृति की प्रगति को भी बड़ा बल मिला था। महान् गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने मथुरा के कृष्ण-जन्मस्थान पर एक भव्य मंदिर बनवाया था, जो ५ वीं शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक वासुदेव कृष्ण की उपासना का प्रमुख केन्द्र रहा था और जिसने ब्रज की प्राचीन संस्कृति और धार्मिक भावना के प्रसार में बड़ा योग दिया था। दिल्ली में कुतुब मीनार के निकट मेहरौली नामक स्थल पर एक प्राचीन लौह स्तंभ है जिस पर किसी चंद्र राजा की प्रशस्ति अंकित है। यह निश्चित है कि वह स्तंभ किसी अन्य स्थल से हटा कर वहाँ लगाया गया है, किंतु वह पहले किस स्थान पर था इसके संबंध में विद्वानों में बड़ा विवाद है। हमारा अनुमान है वह लौह स्तंभ वास्तव में 'विष्णुध्वज' है जिसे चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने यशस्वी पिता समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के साथ मथुरा के कृष्ण-जन्मस्थान वाले अपने मंदिर में लगवाया था। इस विषय पर विद्वानों को विचार करना चाहिए। गुप्त शासन के अंतिम काल में विदेशी बर्बर हूणों ने मथुरामंडल पर भीषण आक्रमण किया था, जिससे यहाँ की बड़ी सांस्कृतिक हानि हुई थी। हूण लोग पश्चिमोत्तर सीमांत और पंचनद प्रदेश में धुँआधार करते हुए तूफान की सी तेजी से मथुरामंडल में आये थे और यहाँ भीषण लूट मार कर मध्य भारत तक बढ़ गये थे। अंत में मंडसर (मालवा) के वश्य जातीय वीरश्रेष्ठ यशोधर्मन ने उन्हें पराजित किया था। उसके बाद हूण लोग भारतीय धर्म और संस्कृति को स्वीकार कर यहाँ बस गये और यहाँ की विभिन्न जातियों में घुल मिल गये थे। हूणों की एक बहुत बड़ी संख्या ब्रज संस्कृति को स्वीकार कर मथुरा मंडल में भी बस गई थी। मथुरा नगर के 'मिहारपुरा' मुहल्ला में संभवत पहले हूणों की ही बस्ती थी और हूण नेता मिहिर कुल के नाम पर उस मुहल्ला का नामकरण हुआ होगा। हूणों को पराजित करने वाला वीरवर यशोधर्मन भारत के गौरवशाली विक्रमादित्यों की परंपरा में अंतिम था। उपर्युक्त इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं के विशद वर्णन के अनंतर इस अध्याय के अंत में उस काल की कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियों की समीक्षा की गई है।

तृतीय अध्याय 'मध्य काल' मे विक्रम सं० ६०० से १२६३ तक की घटनाएँ लिखी गई हैं। इस काल मे भारत की राजनैतिक गति विधियों का केंद्र पाटलिपुत्र (पटना) की अपेक्षा गंगा-यमुना के दोआब स्थित कान्यकुब्ज (कन्नौज) हो गया था और वहाँ का यशस्वी शासक हर्ष-वर्धन अंतिम भारतीय सम्राट था। उस काल में चीन का बौद्ध यात्री हुएनसांग भारत-भ्रमण के लिए आया था। उसका लिखा हुआ यात्रा-वृत्तांत उस काल की भारतीय स्थिति को जानने के लिए बड़ा उपयोगी है। वह विदेशी यात्री सं० ६६२ में मथुरा भी आया था। उसने मथुरामंडल की तत्कालीन स्थिति के संबंध में जो कुछ लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि ७ वीं शताब्दी में 'मथुरा राज्य' एक बड़ी राजनैतिक इकाई था। उसकी सीमाएँ प्रायः वही थीं, जो आजकल के 'सांस्कृतिक ब्रज' अथवा ब्रजभाषा क्षेत्र के अधिकांश भाग की हैं। उस समय का मथुरा राज्य हर्ष के साम्राज्य का एक भाग था, अथवा स्वाधीन राज्य, इसके संबंध में विद्वानों में मतभेद है। हर्षवर्धन के पश्चात् इस देश में जो अनेक युगांतरकारी घटनाएँ हुई थीं, उनमें तीन ऐसी हैं, जिन्होंने मथुरामंडल को भी बड़ा प्रभावित किया था। वे घटनाएँ थीं — १ बौद्ध धर्म का पतन और उसकी भारत में समाप्ति, २ राजपूत राजाओं का उदय और उनके विभिन्न राज्यों की स्थापना, ३ इस्लाम मजहब का प्रचार और मुसलमानों का भारत पर आक्रमण। बौद्धधर्म का पतन होने पर पौराणिक (हिंदू) धर्म का उत्थान हुआ था और मथुरा उसका प्रमुख केंद्र बन गया था। राजपूतों के विविध राज्यों की स्थापना से मथुरामंडल का राजनैतिक महत्व तो कम हो गया, किंतु उसका धार्मिक महत्व बहुत बढ़ गया था। उसका कारण यह था कि उस काल के राजपूत राजा गण प्रायः उसी पौराणिक धर्म के अनुयायी थे, जिसका मथुरामंडल एक बड़ा केंद्र था। मुसलमानों के आक्रमण से इस देश की जो भीषण आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षति हुई थी, उसका कुफल मथुरामंडल को सबसे अधिक भोगना पड़ा था। मुसलमान आक्रमणकारियों में महमूद गजनवी पहिला व्यक्ति था, जिसने अपनी भयंकर लूट-मार में सं० १०७४ में मथुरामंडल का सर्वनाश कर दिया था। उस बर्बर लुटेरे ने अपने मजहबी तास्सुब और लूट के लालच में मथुरा के सैकड़ों समृद्धिशाली मंदिर-देवालयों के साथ कृष्ण-जन्मस्थान वाला वह प्रसिद्ध मंदिर भी नष्ट कर दिया था, जिसे प्रायः ६ शताब्दियों पूर्व चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने बनवाया था। उन मंदिरों में भेंट से प्राप्त जो विपुल संपत्ति कई शताब्दियों से एकत्र होती आ रही थी, उस सबको उस विदेशी आक्रमणकारी ने एक ही झपाट में लूट लिया और उसे वह सैकड़ों ऊँटों पर लाद कर गजनी ले गया। महमूद गजनवी के धुँआधार आक्रमण और उसकी भीषण लूट का वर्णन जिन मुसलमान इतिहास-लेखकों ने किया है, उनमें से एक अल-उत्बी ने मथुरा के तत्कालीन वीर सेनानायक कुलचंद (कुलचंद्र) का बड़ा आश्चर्यजनक वृत्तांत लिखा है। उसके कथन से ज्ञात होता है कि कुलचंद्र एक बड़े राज्य का स्वामी था। उसके अधिकार में विशाल सेना थी और सुदृढ़ दुर्ग था, जो वर्तमान महावन के निकट बना हुआ था। उस समय महावन में बड़े-बड़े भवन एवं मंदिर थे और मथुरा नगर तो सैकड़ों समृद्धि-शाली भवनों एवं मंदिर-देवालयों का एक विशाल केंद्र हो था। कुलचंद्र ने महावन की सुर-क्षा के लिए महमूद गजनवी से बड़ा भीषण युद्ध किया, जिसमें उस वीर पुरुष का बलिदान हुआ था। कुलचंद्र के विषय में अल उत्बी के उक्त कथन के अतिरिक्त कोई अन्य ऐतिहासिक उल्लेख अथवा पुरातात्विक प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसा अनुमान होता है, वह मथुरामंडल के प्राचीन यादव वंश का कोई वीर पुरुष था, जिसने उस काल में अपना स्वतंत्र राज्य का [illegible]

की थी। कुलचंद्र के विषय में पूरी तरह अनुसंधान होना आवश्यक है, क्यों कि मथुरामंडल के राजनैतिक इतिहास के लिए उसका बड़ा महत्व है। यहाँ के इतिहास में कृष्ण कालीन अथवा परवर्ती यादवों और नागों के स्वाधीन राज्यों के पश्चात् कुलचंद्र की स्वायत्त सत्ता का ही उल्लेख मिलता है। महमूद के आक्रमण के पश्चात् मथुरामंडल पर कन्नौज के गाहड़वाल वंशीय राजाओं का अधिकार रहा था। उस वंश के राजा विजयपाल ने मथुरा के श्रीकृष्ण-जन्मस्थान में महमूद गजनवी द्वारा तोड़े हुए मंदिर के ध्वसावशेषों पर एक नये मंदिर का निर्माण सं० १२१२ में कराया था। विजयपाल के पश्चात् जयचंद्र कन्नौज का राजा हुआ था। उसका समकालीन दिल्ली का विख्यात राजा पृथ्वीराज था। उस काल में वे दोनों बड़े वीर और शक्तिशाली राजा थे, किंतु दुर्भाग्य से आपस में ही लड़ते रहते थे। उनके शासनकाल में मुहम्मद गोरी का भारत पर आक्रमण हुआ। उसका प्रतिरोध पृथ्वीराज और जयचंद जैसे प्रबल राजपूत राजाओं ने किया था, किंतु पारस्परिक द्वेष और भय के कारण से वे एक एक कर पराजित हो गये। उसके फल स्वरूप उत्तर *भारत के अधिकांश भाग के साथ मथुरामंडल में भी मुसलमानी राज्य की स्थापना का मार्ग साफ* हो गया। उपर्युक्त सभी प्रमुख घटनाओं के उल्लेख के अनंतर इस अध्याय के अंत में कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियों की समीक्षा की गई है। उसमें इस विषय पर विस्तार से बतलाया गया है कि अनेक शक्तिशाली राजपूत राजाओं के होते हुए भी विदेश से आये हुए मुसलमान आक्रमणकारी यहाँ किस प्रकार अपना राज्य स्थापित करने में सफल हुए थे।

चतुर्थ अध्याय 'उत्तर मध्य काल' से संबंधित है जिसमें सं० १२६३ से सं० १८८३ तक की घटनाओं का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय के आरंभ में मुसलमानी राज्य की स्थापना और उसके विस्तार का वर्णन है। मुसलमानी राज्य के आरंभकर्त्ता दिल्ली के सुलतानों *का शासन एक प्रकार से 'फौजी और मजहबी तानाशाही'* का था जो तलवार के बल पर शरीयत के अनुसार किया जाता था। सुलतानों का उद्देश्य भारत को इस्लामी राज्य बनाना और यहाँ की हिंदू जनता को बलपूर्वक मुसलमान करना था। मथुरामंडल उस काल में हिंदू धर्म का प्रसिद्ध केंद्र था, अतः इस धार्मिक भू भाग पर उनकी सदा ही क्रूर दृष्टि रही था। यह बड़े सुयोग और सौभाग्य की बात हुई कि दक्षिण के कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यों ने उसी काल में कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार करने के लिए श्री कृष्ण के लीला धाम मथुरामंडल में ही अपने केंद्र बनाये थे। इस प्रकार सुलतानों के कठोर शासन की परवाह न कर उनकी नाक के नीचे ही उन्होंने अपना भक्ति अभियान चलाया था। उस समय मथुरामंडल का नया नाम 'व्रज' अथवा 'व्रजमंडल' हो गया था जो अभी तक प्रचलित है। उस काल में यहाँ पर विविध धर्मों के अनेक मंदिर-देवालय थे, जिन्हें सुलतानों ने एक एक कर नष्ट कर दिया था और नये मंदिरों के निर्माण पर रोक लगा दी थी। व्रज के विख्यात कामबन की पहाड़ी पर भगवान् विष्णु का एक अत्यंत कलापूर्ण मंदिर था, जिसे यादव राजा पर्जन्यदामा ने सं० १२५० के लगभग बनवाया था। उस सुंदर देवालय को सुलतान इल्तमश ने क्षतिग्रस्त कर भ्रष्ट किया और फिर फीरोज़ तुगलक ने उसे धराशायी कर उसके मसाले से एक मस्जिद बनवाई थी। मथुरा के अग्निकुंड घाट पर बने हुए प्राचीन मंदिर को अलाउद्दीन खिलजी की आज्ञा से सं० १३५४ में तोड़ा गया और उसके स्थान पर भी एक मसजिद बनवा दी गई। मथुरा के श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर कन्नौज के राजा विजयपाल ने संवत्

१२१२ में जो मंदिर बनवाया था, उसे फीरोज तुगलक ने खंडित किया और फिर सिकंदर लोदी ने सं० १५७३ में उसे पूर्णतया नष्ट कर दिया था। दिल्ली के सुलतानों में सिकंदर लोदी का मजहबी अत्याचार सबसे बढ़ा हुआ था। उसने ब्रज के हिंदुओं के सभी धार्मिक कृत्यों पर पाबंदी लगा दी थी; यहाँ तक कि उसकी आज्ञा से हिंदुओं का यमुना-स्नान करना और वहाँ के घाटों पर बाल बनवाना तक वर्जित था। मथुरा का काजी अपने क्रूर सैनिकों के साथ विश्रामघाट पर डटा रहता था। वह स्नानार्थियों को तंग कर उन्हें मुसलमान बनने के लिए बाध्य करता था। उसके उत्पीड़न के कारण ब्रज के हिंदुओं में बड़ा असंतोष था। नाभाजी कृत भक्तमाल के अनुसार निंबार्क संप्रदाय के आचार्य श्री केशव काश्मीरी भट्ट ने और वल्लभ संप्रदायी वार्ता के अनुसार श्री वल्लभाचार्य ने सिकंदर लोदी की उस मजहबी तानाशाही के विरोध करने का साहस किया और अपने अद्भुत आत्म बल से उसमें सफलता प्राप्त की थी। ऐसा ज्ञात होता है, उन दोनों महात्माओं के सम्मिलित प्रयास से उस काल में ब्रज के हिंदुओं का वह कष्ट दूर हुआ था। सिकंदर लोदी के शासन काल में ही श्री वल्लभाचार्य जी ने ब्रज की गिरिराज पहाड़ी पर श्रीनाथ जी का नया मंदिर बनवाने का उपक्रम किया, जो उस काल की संकटपूर्ण स्थिति में बड़े साहस का काम था। सुलतानों के कठोर शासन के पश्चात् सूर पठानों और मुगलों का उदार शासन आरंभ हुआ था। उस समय दिल्ली की अपेक्षा आगरा में राजधानी कायम की गई, जिससे ब्रजमंडल के धार्मिक महत्व के साथ ही साथ उसका राजनैतिक महत्व भी बढ़ गया था। मुगल सम्राट अकबर ने हिंदुओं पर लगी हुई सुलतानी काल की सभी मजहबी पाबंदियाँ समाप्त कर दी थीं। उसने ब्रज की जनता को अपने विश्वास के अनुसार धर्म-कर्म करने की पूरी स्वाधीनता प्रदान की और गो-वध को बंद कर दिया। उसके शासन काल में ब्रज में कई शताब्दी पश्चात् नये मंदिर-देवालय बनवाये गये थे। उसने यहाँ की विद्याओं और कलाओं की उन्नति में भी बड़ा योग दिया था। इस प्रकार अकबर का शासन काल ब्रज संस्कृति के लिए स्वर्ण काल सिद्ध हुआ था। उसकी बुद्धिमत्तापूर्ण उदार नीति ने हिंदुओं के मन को ऐसा मोह लिया था कि वे मुगल साम्राज्य के निर्माण में मुसलमानों से भी अधिक सहायक सिद्ध हुए थे। जहाँ राजा मानसिंह ने अपने बल-विक्रम से अकबर के साम्राज्य का विस्तार किया, वहाँ टोडरमल के बुद्धि-कौशल ने उसे प्रशासनिक सुदृढ़ता प्रदान की थी। अकबर के पश्चात् जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन काल में कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ प्रायः अकबर की नीति का ही पालन किया गया था, जिससे ब्रज संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास होता गया। जब औरंगजेब मुगल सम्राट हुआ, तब उसने अपनी मजहबी कट्टरता के कारण अपने पूर्वजों की उदार नीति के सर्वथा विरुद्ध आचरण किया था। उसके शासन काल में ब्रज में फिर मजहबी अत्याचार होने लगे और यहाँ की हिंदू जनता को सताया जाने लगा। औरंगजेब ने सिकंदर लोदी की भाँति ब्रज के हिंदुओं पर कड़ी पाबंदियाँ लगा कर उन्हें अपनी इच्छानुसार धर्म-कर्म करने से वंचित कर दिया था। उसने गो-वध करने की खुली छूट देदी, और मुसलमानों पर असमानजनक जजिया कर लगा दिया और मंदिर-देवालयों को नष्ट करने का फरमान जारी किया। उसके आदेश से ब्रज के सभी विख्यात मंदिर-देवालय नष्ट भ्रष्ट किये जाने लगे। उन भीषण अत्याचारों से दुखी होकर ब्रज के अनेक धर्माचार्य अपने देव विग्रह और परिकर के साथ ब्रज को छोड़ कर हिंदू राजाओं के राज्यों में जा कर बस गये थे। उसी काल में वल्लभ संप्रदाय के उपास्य श्रीनाथ जी तथा अन्य देव स्वरूप गोवर्धन और गोकुल से हटाये गये, जिससे ब्रज के वे समृद्धिशाली सांस्कृतिक केन्द्र प्रायः उजड़ गये

सुनसान हो गये थे। औरंगजेबी शासन में ब्रज संस्कृति की ऐसी भारी क्षति हुई कि फिर उसका उत्तरोत्तर ह्रास ही होता गया। परवर्ती मुगल सम्राट मुहम्मदशाह के शासन काल में जब जयपुर का सवाई राजा जयसिंह सं० १७७७ से सं० १७८३ तक आगरा प्रांत का सूबेदार रहा था, तब उसके राजकीय प्रभाव से ब्रज की बिगडी हुई सांस्कृतिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ। उसके उपरांत सं० १८१३–१४ में अहमदशाह अब्दाली नामक एक अफगान आक्रमणकारी ने ब्रज में भयंकर लूट मार कर यहाँ पुनः सर्वनाश का वातावरण उपस्थित कर दिया था। उसका ऐसा दुष्परिणाम हुआ कि ह्रासोन्मुखी ब्रज संस्कृति फिर नहीं पनप सकी। मुसलमानी शासन के अत्याचारों ने ब्रज की कृषिजीवी जाट जाति को एक सैनिक संगठन में परिवर्तित कर दिया था। इस जाति ने सूरजमल और जवाहरसिंह जैसे वीर पुंगवों को जन्म दिया, जिन्होंने ब्रज में स्वाधीन राज्य के संचालन के साथ ही साथ मुगलों की राजधानी दिल्ली पर आक्रमण कर अपने वीरत्व का डंका बजाया था। जाट राजाओं में असाधारण वीरता तो थी, किंतु उनमें राजनैतिक सूझ-बूझ और उदात्त सांस्कृतिक चेतना की कमी थी, जिससे वे ब्रज के सर्वांगीण निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सके थे। फिर भी उन्होंने डीग, भरतपुर और गोवर्धन में जो सुंदर भवन बनवाये और ब्रजभाषा कवियों का संरक्षण किया, उनसे ब्रज के स्थापत्य और काव्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला था। ब्रज की तत्कालीन स्थिति पर जाटों के अतिरिक्त मरहठों का भी बड़ा प्रभाव पड़ा। सुप्रसिद्ध मरहठा सेनापति महादजी सिंधिया कृष्णोपासक होने के साथ ही साथ ब्रज संस्कृति का भी बड़ा प्रेमी था। उसने अपनी वीरता और बुद्धिमत्ता से मुगल सम्राट शाह आलम को अपने संरक्षण में लेकर दिल्ली के लाल किले पर मरहठों का भगवा झंडा फहरा दिया था। किंतु पेशवा की अदूरदर्शिता और प्रधान मरहठा सरदारों की पारस्परिक ईर्ष्या से वह न तो मरहठा राज्य का कोई बड़ा हित साधन कर सका और न ब्रज संस्कृति के पुनरुद्धार में ही सहायक हो सका। मुसलमानी शासन के शक्तिहीन हो जाने पर उस काल की प्रबलतम मरहठा शक्ति को छत्रपति शिवाजी के आदर्शानुसार भारत में हिंदू पातशाही की स्थापना करने का स्वर्ण सुयोग मिला था। किंतु मरहठा सरदारों की फूट से विदेशी अंगरेजों को भारत में जम जाने का अवसर मिल गया और यह देश फिर पराधीनता के बंधन में बँधने को विवश हुआ था। उस काल की बहु संख्यक उपलब्धियों के कारण जहाँ ब्रज संस्कृति का चरम विकास हुआ, वहाँ कतिपय अभावों के कारण उसका शोचनीय ह्रास भी होने लगा था। ब्रजवासियों में धर्म, साहित्य और कला के प्रति असीम अनुराग था, किंतु जाटों के अतिरिक्त यहाँ के अन्य लोगों में वीरत्व की भावना का प्रायः अभाव रहा था। ब्रज के धर्माचार्यों और भक्त कवियों ने लोगों में उच्चकोटि की धार्मिक चेतना और कलाभिरुचि जाग्रत करने में जितना उत्साह दिखलाया था, उसका शतांश भी यदि वे अत्याचारियों का विरोध करने की प्रेरणा देने में दिखलाते, तो ब्रज संस्कृति का वैसा भीषण ह्रास न होता। ऐसा जान पड़ता है उस काल के धार्मिक नेता 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिंता प्रवर्तते'—अर्थात् शस्त्रों से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्रों का चिंतन संभव है—जैसे प्राचीन नीति वाक्य को भूल गये थे। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उस काल में निर्मित ब्रजभाषा के विशाल वाङ्मय में आततायियों के अमानुषिक अत्याचारों के विरोध की भावना तो दूर रही, उनके प्रति आक्रोश तक का अभाव दिखलाई देता है। इस अध्याय में उस काल की सभी महत्वपूर्ण घटनाओं के विवेचन के साथ उनकी उपलब्धियों और उनके अभावों की भी समीक्षा की गई है।

पंचम अध्याय 'आधुनिक काल' में सं० १८८३ से सं० २०२२ तक की घटनाओं का उल्लेख किया गया है। इसमें पहले अंगरेजी कंपनी द्वारा व्रजमंडल पर अधिकार कर यहाँ शासन कायम करने, अंगरेजी सत्ता के विरुद्ध भारतीयों के प्रथम विद्रोह में व्रजवासियों का योग देने और कंपनी राज्य के समाप्त होने पर बृटिश शासन की स्थापना होने का सामान्य उल्लेख है। फिर व्रज के जन जीवन पर उन घटनाओं की जो भली-बुरी प्रतिक्रिया हुई, उसका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। उसके उपरांत उस काल की व्रज की धार्मिक दुर्दशा और सांस्कृतिक अवनति का कारण बतलाते हुए उन समृद्धिशाली भक्तजनों, सांस्कृतिक एवं धार्मिक महापुरुषों तथा धर्म प्राण विद्वानों का उल्लेख किया गया है, जिन्होंने व्रज की तत्कालीन स्थिति को सुधारने का भारी प्रयत्न किया था। बृटिश काल में जब यहाँ शांति स्थापित हो गई, तब विभिन्न स्थानों के समृद्धिशाली धार्मिक जन व्रज की पावन भूमि में निवास करने के लिए उसी प्रकार आये थे, जिस प्रकार वे कुछ शताब्दियों पूर्व के शांति काल में आते रहे थे। ऐसे महानुभावों में सर्व श्री गोकुलदास पारिख, लाला बाबू नंदकुमार वसु, शाह कुंदनलाल (ललित किशोरी), राजा पटनीमल, सेठ जयनारायण-लक्ष्मी नारायण पोद्दार, राजर्षि बनमाली बाबू और भैया बलवंतराव सिंधिया के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके द्वारा निर्मित मंदिर देवालयों तथा उनके विविध धार्मिक कार्यों ने व्रज के सांस्कृतिक पुनरुत्थान में बड़ा योग दिया है। श्री गोकुलदास पारिख द्वारा मथुरा के जिन सेठों की परंपरा प्रचलित हुई, उनके द्वारा निर्मित श्री रंग जी और श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर व्रज की धार्मिक भावना के प्रमुख केन्द्र हैं। व्रज के अन्य सांस्कृतिक महापुरुष उपा० अमरलाल-माधवलाल, दंडी स्वामी विरजानंद, गो० मधुसूदन जी-राधाचरण जी तथा गोपाललाल गोस्वामी ने व्रज संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में अपना महत्वपूर्ण योग दिया था। अंगरेजी कंपनी और बृटिश राज्य के शासन काल में व्रज में जो अंगरेज अफसर रहे, उन्हें व्रज संस्कृति से कोई प्रेम नहीं था, अतः वे इसकी प्रगति के लिए प्रयत्नशील नहीं हुए। उनमें एक श्री ग्राउज ही अपवाद है, जो व्रज के सौभाग्य से यहाँ का जिलाधीश होकर आया था। वह निश्चय ही व्रज संस्कृति के लिए बड़ा सहायक सिद्ध हुआ था। इस अध्याय के अंत में बृटिश शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय आंदोलन की गति विधि और महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वाधीनता प्राप्ति के उल्लेख के साथ व्रज के सांस्कृतिक निर्माण की वर्तमान स्थिति और भविष्यत् संभावना पर संक्षिप्त रूप से विचार किया गया है। स्वाधीन भारत के वर्तमान शासकों का जितना ध्यान देश के आर्थिक पुनर्निर्माण की ओर है, उतना सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ओर नहीं है, फिर भी हमें आशा है कि वे व्रज संस्कृति के महत्व को समझ कर यहाँ की सांस्कृतिक प्रगति की भी समुचित व्यवस्था करेंगे। कारण यह है कि किसी भी देश का पुनर्निर्माण उसके सांस्कृतिक अभ्युदय के बिना अधूरा ही माना जाता है और इस संबंध में व्रज संस्कृति बड़ा महत्वपूर्ण योग दे सकती है। इस अध्याय में वर्णित यहाँ की महत्वपूर्ण घटनाओं के उल्लेख के साथ 'व्रज का इतिहास' नामक यह दूसरा खंड समाप्त हुआ।

इस भाग के अंत में विस्तृत अनुक्रमणिका है, जिसमें 'व्रज संस्कृति की भूमिका' और 'व्रज का इतिहास' नामक दोनों खंडों की पृथक् पृथक् नामानुक्रमणिकाएँ और ग्रंथानुक्रमणिकाएँ हैं। इन्हें संदर्भ की सुविधा के लिए बड़े परिश्रम से प्रस्तुत किया गया है। दोनों खंडों में यथा स्थान अनेक चित्र हैं, जिनसे इस भाग की उपयोगिता बढ़ गई है।

× × ×

इस भाग की रचना में मैंने जिन ग्रंथों से सहायता ली है उनके नाम का उल्लेख यथा स्थान और अंत में दी हुई सहायक ग्रंथों की सूची में किया गया है। मैं उनके विद्वान लेखकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं। भारत कला भवन वाराणसी और पुरातत्व संग्रहालय मथुरा से मुझे ब्लाक बनवाने के लिए चित्र, छापने के लिए ब्लाक और अध्ययन के लिए अनेक ग्रंथ प्राप्त हुए हैं, जिनके लिए मैं उनके अध्यक्ष आदरणीय राय कृष्णदास जी और डा० नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी का अत्यंत आभारी हूँ। इस ग्रंथ में मुद्रित कुछ चित्रों के ब्लाक गो० ब्रजरमण जी मथुरा, गो० माधवराय जी पोरबन्दर, अधिकारी ब्रजवल्लभ शरण जी वृंदावन, श्री गोपालदास जी झालानी इंदौर, वैद्य गोपालप्रसाद जी कौशिक गोवर्धन, गो० ललिताचरण जी वृंदाबन और कन्हैयालाल जी मथुरा से प्राप्त हुए हैं। इनके लिए मैं उक्त सज्जनों का अत्यंत आभार मानता हूँ। श्री उदयशंकर जी शास्त्री से ग्राउस के दुर्लभ ग्रंथ 'मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोयर' (तृ० सं०) की सुंदर प्रति और श्री बालमुकुंद चतुर्वेदी से ब्रजयात्रा संबंधी कुछ पुस्तकें एवं उपयोगी सूचनाएँ प्राप्त हुई, जिनके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देता हूं। मैं सबसे अधिक आभारी विद्वद्वर डा० वासुदेव शरण जी अग्रवाल और पद्मभूषण राय कृष्णदास जी का हूं, जिन्होंने इस ग्रंथ के लिए 'प्रस्तावना' और 'दो शब्द' लिखने की कृपा की है। डा० अग्रवाल जी ने तो अपनी रुग्णावस्था में शय्या पर लेटे हुए ही अपने वक्तव्य को लिखवाया था। उनके प्रति समुचित कृतज्ञता प्रकट करना किसी प्रकार भी संभव नहीं है। जिन अन्य सज्जनों से मुझे इस भाग की रचना में किसी भी प्रकार की सहायता मिली है और जिनके नामों का स्मरण इस समय मुझे नहीं हो रहा है, उन सबके लिए मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। असल में यह ग्रंथ बहुसंख्यक विद्वानों की विद्वत्ता का ही प्रसाद है, जिसे वितरण करने भर का काम मैंने किया है। अपने कथन के आरंभ में मैंने इस ग्रंथ की रचना के पूर्ण हो जाने पर आत्म संतोष व्यक्त किया है, किंतु वह तब तक अधूरा है, जब तक इस ग्रंथ के सभी खंड छप कर प्रकाशित नहीं जाते हैं। किसी भी बड़े ग्रंथ के मुद्रण और प्रकाशन का कार्य उसकी रचना से कम श्रम-साध्य नहीं होता है। यह हर्ष की बात है कि शेष खंडों की छपाई का काम भी तेजी से हो रहा है और भगवान् की कृपा से वे शीघ्र ही प्रकाशित होंगे।

साहित्य संस्थान, मथुरा।
आषाढ शु० १५ (व्यास पूर्णिमा), सं० २०२३

—प्रभुदयाल मीतल

●

प्रस्तावना

मेरे अभिन्न मित्र श्री प्रभुदयाल जी मीतल सच्चे अर्थों में ब्रजवासी हैं। उनका जन्म मथुरा पुरी में हुआ है और उनके श्वास-प्रश्वास में ब्रजभूमि का आदर्श बसा हुआ है। उन्होंने ब्रज के वृहद् सांस्कृतिक इतिहास की रचना का शुभ संकल्प किया और कई वर्षों के अथक परिश्रम से इसे पूरा कर डाला। यह कार्य बहुत बड़ा था और अब तक किसी भी व्यक्ति ने इसे करने का साहस नहीं किया था। मुझे हर्ष है मीतलजी ने अकेले ही इस महान् कार्य को पूरा कर लिया। ब्रज संस्कृति से संबंधित यह ग्रंथ कई खंडों में समाप्त हुआ है। इसमें हमें ब्रज का ऐतिहासिक, धार्मिक, कला विषयक, साहित्यिक और लोक जीवन संबंधी विशद विवेचन मिलता है। इस प्रकार यह ग्रंथ ब्रज का विश्वकोश ही बन गया है। इस वृहद् ग्रंथ के प्रथम दो खंड—ब्रज संस्कृति की भूमिका और ब्रज का इतिहास—इस भाग में प्रकाशित हो रहे हैं। शेष चार खंड—ब्रज के धर्म-संप्रदाय, ब्रज की कलाएँ, ब्रज का साहित्य और ब्रज की लोक संस्कृति भी अन्य भागों में यथा समय प्रकाशित होंगे।

ब्रज संस्कृति के अनुपम महत्व की अत्यंत दीर्घ कालीन परंपरा रही है। ब्रजभूमि और मथुरा पुरी का किसी समय जो दिव्य रूप था, उसका लगभग ढाई सहस्र वर्षों का इतिहास भी पुरातत्व और साहित्य की सम्मिलित साक्षी से उपलब्ध है। ऐसा सौभाग्य और गौरव भारत के किसी अन्य स्थान को प्राप्त नहीं है। ऐसी दशा में ब्रजभूमि के सर्वांगीण परिचय के लिए भारतीय जनता का उत्सुक होना स्वाभाविक है। यह उत्सुकता विगत वर्षों में उत्तरोत्तर बढ़ती रही है। ब्रज के इतिहास में विकास और ह्रास तथा उन्नति एवं अवनति के अनेक काल हुए हैं, किंतु इधर इसकी बहुमुखी उन्नति का युग पुनः आया है। ब्रज संस्कृति के भव्य रूप और ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य के प्रति लोगों की जिज्ञासा में वृद्धि हुई है। मथुरा के संग्रहालय का जो विकास और विस्तार हुआ है, उसका यश देश-विदेश में निरंतर बढ़ रहा है। कटरा केशवदेव या कृष्ण-जन्मभूमि के उद्धार का भी प्रचुर प्रयत्न हो रहा है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के विशिष्ट ग्रंथ की भी नितांत आवश्यकता थी। ईश्वर की कृपा से इसकी सामयिक पूर्ति मीतल जी के सत्प्रयास द्वारा हुई है।

प्राचीन परिभाषा के अनुसार जनपद के दो भाग होते थे—एक नगर या पुर और दूसरा उसके चारों ओर ग्रामों का मंडल या राष्ट्र। इस प्रकार मथुरा पुरी शूरसेन जनपद (प्राचीन ब्रजमंडल) की राजधानी थी। उसकी जनपदीय सीमा चौरासी कोस की कही जाती है जो आज तक बड़ी यात्रा के अंतर्गत है। मथुरा पुरी की अंतर्गृही यात्रा छोटी परिक्रमा के रूप में प्रचलित है।

मथुरा का आदि कालीन सन्निवेश यमुना के दक्षिण तट पर हुआ था। कहते हैं, उससे पूर्व मधु बन (वर्तमान महोली) में लवण नामक असुर ने कुछ गुफाएँ बनाई थी और वहीं वह निवास करता था। देवों की प्रार्थना पर राम ने अपने छोटे भाई शत्रुघ्न को लवणासुर का उपद्रव शांत करने के लिए वहाँ भेजा और उन्होंने उसको परास्त कर मथुरा नगरी का सन्निवेश किया, जो 'देव निर्मिता पुरी' कही गई। वाल्मीकि रामायण में इसका उल्लेख हुआ है। मथुरा सन्निवेश की एक भौगोलिक विशेषता है, और वह यह कि मथुरापुरी प्राच्य और उदीच्य के बीच का देहली-द्वार थी। मध्य देश के सार्थवाह और व्यापारी पूर्व से पश्चिम की ओर यात्रा करते समय मथुरा के भाण्डागारिकों से सम्पर्क करते हुए आते-जाते थे। उससे मथुरा नगरी का बाह्य प्रभाव बढ़ गया था। किंतु मथुरा की जन्म कुंडली में सबसे बड़ा प्रभावोत्पादक योग यह था कि यहाँ भगवान् श्री कृष्ण का जन्म हुआ। वह महाभारत के युग की घटना है। उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि कृष्ण-जन्म के कारण मथुरा का यश उत्तर भारत में सर्वत्र फैल गया था। सच तो यह है कि काल-क्रम से मथुरा पुरी भागवत धर्म का महान् केन्द्र बन गई और तब इसका यश न केवल उत्तर भारत में वरन् दक्षिण के पल्लव वंशीय राजाओं के राज्य में भी व्याप्त हो गया। वहाँ तमिल भाषा के संगम साहित्य में भगवान् कृष्ण और गोपियों के साथ उनके नृत्य-गान के उल्लेख पाये जाते हैं। तमिल भाषा के 'शिलप्पाधिकारम्' ग्रंथ में इस विषय का बहुत अच्छा वर्णन हुआ है।

उत्तर भारत में मथुरा के वैष्णव धर्म का प्रभाव कई सौ मील के घेरे में व्याप्त था। पश्चिम की ओर दक्षिण-पूर्वी राजस्थान की मध्यमिका नगरी में वासुदेव और संकर्षण अर्थात् कृष्ण-बलराम की पूजा का एक केन्द्र स्थापित हुआ, जिसे 'नारायण वाटक' अर्थात् नारायण का बाड़ा नाम दिया गया। सौभाग्य से वह स्थान आज भी सुरक्षित है। उसके बीच में ईंटों के मंच पर पत्थर की पूजा-शिला और चारों ओर बड़े-बड़े पत्थरों को जोड़ कर बनाई हुई एक प्राकार या दीवार थी जो आज भी है। ऐसे ही मथुरा से दक्षिणा पथ को जाने वाले मार्ग पर प्राचीन राजधानी विदिशा के निकट भगवान् विष्णु के मंदिर और गरुड़ध्वज स्थापित किये गये जिनके अवशेष अब भी विद्यमान हैं। इस प्रकार विक्रम से दो शती पूर्व के काल में मथुरा का प्रभाव बाल सूर्य की भाँति निरंतर बढ़ रहा था। उसी समय जैन और बौद्ध धर्मों के अनुयायियों ने भी मथुरामंडल में अपने केन्द्र बनाये थे जहाँ उन्होंने स्तूपों एवं प्रासादों का निर्माण किया था। उनके आंदोलन का प्राण भी भक्ति धर्म था, किंतु उसका मूर्त रूप पत्थर की प्रतिमाओं द्वारा प्रकट किया गया। पाषाण शिल्प का वरदान पाकर मथुरा का वैभव नये रूप में जगमगाने लगा। उस समय की बनाई हुई सहस्रों मूर्तियाँ आज तक सुरक्षित हैं। इन शिला पट्टों पर मथुरा के इतिहास की अमर कहानी अंकित है जिसका उद्घाटन इस सांस्कृतिक इतिहास के कला खंड में किया गया है।

भगवान् कृष्ण समस्त विश्व को प्रकाश देने वाले दिव्य दीपक हैं। उन्हें ज्ञान-सूर्य कहना भी उपयुक्त होगा। उनका गीता शास्त्र मानव के लिए कर्म का अमर संदेश देता है। भगवान् बुद्ध भी एशिया खंड में ज्ञान-ज्योति का विस्तार करने वाले महापुरुष थे। उनकी मूर्ति की कल्पना भी सर्वप्रथम मथुरा में ही हुई और यहाँ से वह एशिया के अनेक देशों में फैल गई। मथुरा के शिल्पियों ने बौद्ध जैन और ब्राह्मण धर्मों की दिव्य मूर्तियों का निर्माण कर भारतीय

कला को एक नया मोड़ दिया था। मथुरा के बौद्ध अभिलेख इस बात के साक्षी हैं कि विक्रम की आरंभिक शताब्दियों के महान् धार्मिक आंदोलन के अंतर्गत सर्वास्तिवादी और महासंघिक आचार्यों ने मथुरा की धार्मिक प्रेरणा को अपनी शक्ति से भर दिया था। इसी प्रकार जैन संघ ने भी अपने गण, कुल और शाखाओं के रूप में मथुरा को अपना विशिष्ट कार्यक्षेत्र बनाया था। उसका ब्योरा मथुरा में उपलब्ध जैन मूर्तियों की चरण-चौकियों के लेखों में मिलता है। ब्राह्मण धर्म के भागवत आंदोलन का तो शिरोमणि केन्द्र ही मथुरा में बना था, जहाँ भक्ति धर्म के वे बीज अंकुरित हुए, जिनसे गुप्त युग का धार्मिक स्वरूप प्रकट होकर लहलहाने लगा। उसे अंगीकार कर मध्यदेश के चंद्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे गुप्त सम्राट अपने को 'परम भागवत' कह कर गौरवान्वित हुए थे। मथुरा के कृष्ण-जन्मस्थान पर चंद्रगुप्त ने विष्णु का एक महाप्रासाद बनवा कर भगवान् कृष्ण के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी। विक्रम की प्रथम शताब्दी के लगभग पाशुपत संप्रदाय के आचार्यों ने भी मथुरा को शैव धर्म का एक बड़ा क्षेत्र बना कर यहाँ शैव मूर्तियों और मंदिरों की स्थापना की थी। वह आंदोलन गुप्त काल में और भी बलशाली हो गया था।

इस प्रकार मथुरा की पुरातत्व सामग्री से यह भली भाँति प्रकट होता है कि भारत के धार्मिक क्षेत्र में ब्रज ने मौलिक निर्माण का कितना बड़ा काम किया है। यहाँ के चारों धार्मिक संप्रदाय—जैन, बौद्ध, वैष्णव और शैव—ब्रज के सांस्कृतिक स्वस्तिक की चार भुजाएँ थीं। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ब्रज के धार्मिक महा सुमेरु की जल-धाराओं का स्रोत मथुरा के धर्मप्राण नागरिकों का हृदय था, जिसकी परंपरा ब्रज में सदैव बनी रही। वही धर्मप्राण हृदय वैष्णव भक्ति के रूप में विकसित हुआ था। विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में वैष्णव धर्म के अनेक आचार्यों और संतों ने ब्रजभूमि में अपने केन्द्र बना कर कृष्णोपासना के जिस नवीन भक्ति-धर्म का उपदेश दिया, उसकी कथा बहुत विशाल है। भगवान् श्रीकृष्ण की गोकुल-वृंदावन की विविध लीलाओं को केन्द्र में रख कर उनके दिव्य लीलामय वपु का विकास श्रीमद्भागवत में पहिले ही पूर्णता को प्राप्त हो चुका था। फिर उसके साथ भक्तिरस का संयोग भी पूर्ण मात्रा में आ गया था। मध्यकालीन आचार्यों और संतों ने उस भागवतीय भक्ति को नये रूप में इतना अधिक विकसित किया कि ब्रज की महिमा समस्त भारतवर्ष के जन-मानस में व्यापक रूप से बस गई। श्री वल्लभाचार्य और श्री चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण-भक्ति के उस स्वरूप का सर्वाधिक साक्षात्कार किया था। श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रेरित सूरदास और परमानंददास ने तथा श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रेषित सनातन गोस्वामी और रूप गोस्वामी ने साहित्य और जीवन के माध्यम से ब्रज में हरि-भक्ति की अमृत-धारा का प्रादुर्भाव किया। फिर तो उनके अन्य सहयोगियों के साथ ही साथ निंबार्कीय, माध्व, राधावल्लभीय और हरिदासी आचार्यों एवं भक्त महानुभावों ने धर्मोपासना और भक्ति-साहित्य का दिव्य स्रोत ही बहा दिया। उस काल में देशज भाषाओं का पूरा विकास हो चुका था। उनके माध्यम से एक ओर चंडीदास और विद्यापति ने, दूसरी ओर नरसी मेहता और मीराबाई ने तथा बीच में तुलसीदास ने भक्ति धर्म की धारा को लोक के धरातल पर प्रबल वेग से प्रवाहित कर दिया था। उसके कारण बंगभूमि से लेकर राजस्थान-गुजरात तक की जनता भक्ति रस में सराबोर हो गई थी। उसका अधिकांश श्रेय ब्रज के धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन को है।

यद्यपि यमुना और गोवर्धन वाली ब्रज की सीमा परिमित है, तथापि भक्तों के आदर्श ब्रज लोक की सीमा का कोई अंत नहीं है। उन्होंने तो एक नया स्वर्ग ही रच लिया है जिसे 'गोलोक' कहा जाता है। जिनके हृदय में भक्ति का रस है और जो उसकी सरसता का अनुभव करते हैं, उनके लिए ही ब्रज की वास्तविक सत्ता है—उनके लिए ही ब्रज का सच्चा माधुर्य है। जिस प्रकार भगवान् कृष्ण के लीला-वपु के अनेक रूप हैं, जिनका रसास्वादन प्रत्येक भक्त अपनी भावना के अनुसार करता है, उसी प्रकार भगवान् के गोलोक की कल्पना भी अनंत है। मथुरा, वृंदावन, गोकुल और गोवर्धन सहित समस्त व्रजभूमि इस लोक में उसका स्थूल प्रतीक है। कृष्ण मानव थे—ऐसा मान कर उनके ऐतिहासिक चरित्र की छानबीन करने वाले लोगों का एक दृष्टिकोण है। वैष्णव धर्म के विविध आचार्यों का उनके संबंध में दूसरा दृष्टिकोण है। दोनों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं किंतु कृष्ण ही नहीं बुद्ध के भी लोकोत्तरवादी स्वरूप में ही सच्ची सरसता है। ऐतिहासिक घटना विच्छिन्न होती है, किंतु लोकोत्तर लीला का कोई अंत नहीं होता है। वह नित्य प्रवर्धमान् रहती है और मानव का हृदय उस भक्ति-रस में नाचता रहता है। गोवर्धन-धारण एक लीला है, इंद्र का दर्प-भंग भी एक लीला है। इन्हें इतिहास की घटनाएँ मान कर इनका अन्वेषण करना बुद्धि का पराभव होगा।

ब्रज के सांस्कृतिक इतिहास का सांगोपांग अनुसंधान जिज्ञासु पाठक के हृदय में एक विशेष प्रकार की तैयारी की अपेक्षा रखता है। उसके स्थूल और सूक्ष्म, प्रत्यक्ष और परोक्ष—दोनों ही संदेशों को सुनने की क्षमता चाहिए। कृष्ण मानव हैं—यह सत्य है और कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् यह भी सत्य है। किसी पक्ष को माना जाय किंतु उसमें रस का अभाव नहीं होना चाहिए। तभी पाठकों के अंतःकरण को उसका लाभ मिल सकता है। इस युक्ति की संप्राप्ति ही व्रज संस्कृति के मर्म को खोलने की कुंजी है या उसे जानने का दृष्टिकोण है।

अंत में मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि लेखक में हृदय-बल और बाहु-बल की वह शक्ति अक्षुण्ण रहे, जिससे इस सांस्कृतिक इतिहास का समस्त कार्य पूर्णतया सिद्ध हो सके।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
चैत्र शु० ६ (रामनवमी) २०२३ वि०

—वासुदेवशरण

दो शब्द

●

यदि आधुनिक भाषा में कहें तो संसार के महानतम पुरुष और यदि पारम्परीण भाषा में कहें तो पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्री कृष्ण की जन्म-भूमि होने के कारण मथुरा (जिसमें सम्पूर्ण ब्रज भूमि का अन्तर्भाव है) संसार की पुण्यतम भूमि है। भगवान् ने जो प्रवर्तन किया, जिसका सबसे प्रामाणिक रूप हमें श्रीमद् भगवद्गीता में मिलता है, उसकी विशेषता यह है कि उसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति का ऐसा अपूर्व समन्वय है जो अन्य किसी भी प्रवर्तन में नहीं पाया जाता। भगवान् ने इस धर्म-सन्धापन द्वारा प्राणी को सद्-असद् का विवेक, अपने अपने 'स्वकर्म' में अभिरति और इस अभिरति के रूप में भगवान् की अभ्यर्चना करके संसिद्धि की—मोक्ष की—प्राप्ति का कर्मनिष्ठ गृहस्थों के लिए, और सांसारिक विषयों में अनासक्ति पूर्वक भगवद्-भक्ति द्वारा निर्वाण-प्राप्ति निवृत्ति-मार्गियों के लिए उपदिष्ट किया। उन्होंने युधिष्ठिर द्वारा कुरु-राज्य में इसी धर्म की प्रतिष्ठा करा कर इसका प्रवर्तन वहां भी किया, जिसकी चर्चा जातकों में कुरु-धर्म नाम से पाई जाती है, जहां राजा से लेकर बन्दी तक—समाज की उच्चतम स्तर वाली प्रजा से लेकर निम्नतम स्तर की प्रजा तक—अपने अपने स्वधर्म में निरत है और उनके द्वारा अभ्युदय (ऐहिक संसिद्धि) और निःश्रेयस् (पारमार्थिक संसिद्धि) प्राप्त करती है।

स्वयं कृष्ण के अपने जीवन में अर्थात् यादवों का सात्वत नामक शाखा ने भी उनका यह धर्म ग्रहण किया, इसी कारण इसका नाम सात्वत धर्म भी मिलता है। जब कृष्ण के लीला-विस्तार के उपरान्त यादव, द्वारका से पुनः मथुरा लौट आये तो मथुरा इस धर्म का केन्द्र हुआ। यूनानी लेखकों के वृत्तान्तों के जो छिन्न-भिन्न अंश प्राप्त हैं उनसे पता चलता है कि ई० पूर्व ५-४ शती में मथुरा नगरी ही इस धर्म का केन्द्र थी। फिर तो जैन और बौद्ध धर्मों ने भी मथुरा को अपना केन्द्र बनाया। भारतीय आर्य धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की यही समन्वयात्मक प्रवृत्ति रही है कि उनके केन्द्र बहुधा एकत्र रहे हैं, काशी, प्रयाग, अयोध्या, गया आदि इनके उदाहरण हैं, वायु पुराण के एकसौ ग्यारहवें अध्याय में उन्मुक्त उल्लेख है कि वहां का अक्षयवट वृक्ष ब्रह्मा, विष्णु, महेश और शक्ति-वृक्ष इन चारों रूपों में पूजित होता था।

निदान कनिष्क के समय में मथुरा में बौद्ध धर्म का अभूतपूर्व अभ्युदय हुआ। विजेता शक राज का भारतीय धर्म ने विजित बना लिया और राजधर्म होने के कारण उसने मथुरा में उत्कृष्ट कलात्मक रूप धारण किया, किन्तु कृष्ण-धर्म भी अटल बना रहा। कनिष्क के पौत्र का नाम वासुदेव इस बात का साक्षी है कि वैष्णव धर्म की छाप शकों पर लग चुकी थी। कृष्ण का धर्म सदा से इस विषय में उन्मुक्त और उदार रहा है। उसके बाद वाली शतियों में क्या गुप्त काल में क्या पूर्व-मध्य काल में मथुरा की श्री ज्यों की त्यों बनी रही और सुलतान काल में अनेक सङ्घर्षों का सामना करते हुए उसने कभी अपना मस्तक नत नहीं किया।

पन्द्रहवीं शती में तो मथुरा में वैष्णव धर्म के जागरण की पूरी लहर आ गई। यही क्या, कहना यह चाहिए कि उस लहर की चूड़ामणि मथुरा रही। गवश्री वल्लभ चैतन्य, हित हरिवंश आदि सभी आचार्यों ने ब्रज-रज रमा कर ही अपने प्रवर्तन किए। साथ ही संगीत साहित्य मुख्यतः ब्रज भाषा के गेय पदों का जो कुबेर-भंडार उन महानुभावों के अनुग्रह से हमें प्राप्त हुआ, वह भारत की ही नहीं संसार की एक अपूर्व और अमर निधि है। वर्तमान हिंदुस्तानी संगीत के युग-पुरुष तानसेन ब्रज भूमि के स्वामी हरिदास की ही देन हैं।

भगवान् की भावपूर्ण सेवा-पूजा और उसके कारण समस्त ललित कलाओं एवं सुकुमार शिल्पों की जो उन्नति मथुरा में हुई, उसी का प्रभाव हम राजस्थानी और पहाड़ी चित्र कला तथा अन्य कलाओं और सभी प्रकार की सुरुचि में पाते हैं। समस्त भारतीय कला का मेरुदंड भगवान् का लीलावपु ही है। क्या साहित्य क्या संगीत, क्या चित्र कला, क्या मूर्ति कला क्या अन्य ललित कला—सभी लीला वपुधारी कृष्ण पर आधृत हैं। फलतः इन सभी सुकुमार शिल्पों का उद्गम मथुरा एवं ब्रज भूमि है।

ऐसी मथुरा नगरी ब्रज भूमि सुतरां शूरसेन जनपद के विषय में गवेषणात्मक साहित्य की अत्यंत वांछा और अपेक्षा है। स्वनाम-धन्य ग्राउस महाशय ने १९वीं शती में इस कार्य का आरंभ किया, किंतु उनका वह कार्य एक तो पहला प्रयत्न था दूसरे विदेशी भाषा में फलतः उसके लाभ से जनता वंचित ही रही।

अब हमारे प्रिय बंधु श्री प्रभुदयाल जी मीतल बद्ध-परिकर होकर इस महत् प्रयास में जुट गए और अनेक वर्षों के सतत परिश्रम से उन्होंने कई खंडों में जो 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास' प्रस्तुत किया, वह निस्संदेह अनुपम है और अपूर्व है। मथुरा निवासी होने के कारण वैष्णव होने के कारण मर्मज्ञ होने के कारण और साथ ही सुरुचि-संपन्न होने के कारण यह काम उन्हीं के बूते का था और उन्होंने इस रूप-स्वरूप के साथ पूरा किया है। इसके लिए वे हम सबके बधाई और साधुवाद के पात्र हैं।

मुझे विश्वास है उनके इस श्लाघ्य परिश्रम का समुचित आदर होगा। इतना ही नहीं, इस कृति के अनुकरण पर काशी अयोध्या, हरद्वार और तीर्थराज प्रयाग पर भी गवेषणात्मक रचनाएं प्रस्तुत की जावेंगी। उत्तर प्रदेश का यह महाभाग्य है कि सप्त महापुरियों में से चार यहां हैं। स्वयं तीर्थराज प्रयाग अपने ही प्रदेश में विराजते हैं, और भारत का मुकुटमणि बदरी विशाल भी यहीं का पुण्य धाम है।

मुझे यह भी विश्वास है कि मीतल जी के इस ग्रंथ-रत्न का समुचित समादर तो होगा ही, साथ ही उनके इस पथ का अनुसरण हमारे लेखकों की उदीयमान पीढ़ी अवश्य करेगी और ऐसी परिश्रम-साध्य कृतियों से ही हिंदी साहित्य के भंडार को समृद्ध बनावेगी।

भारत कला भवन,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वैशाख कृ० ११ (श्री वल्लभ जयंती) २०२३ वि०

—राय कृष्णदास